

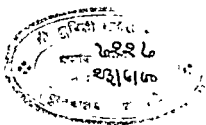


मेरी अधिकतर कहानियां मनुष्य की है,
व्यक्ति की नहीं
मनुष्य में ही मेरी अधिक रुचि रही है
उसके जीवन में जो झूठ
और पाखण्ड मैंने देखा, सहा है,
वही मेरी कहानियों में उभर आया है
यथासम्भव मैंने इन कहानियों में
सत्य को ही स्वर देने का
प्रयत्न किया है,
फिर चाहे वह किसीके विरुद्ध हो
लेकिन ऐसा करते हुए
मैंने मानव की सहज संवेदना
अर्थात् सहज मानवीय संबंधों से
मुक्ति पाने की चेष्टा नहीं की है
ये कहानियां मैंने बड़े सहज भाव से लिखी है
क्योंकि इनमें से प्रायः सभी के सत्य को
मैंने सहा और भोगा है

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली-६

विष्णु प्रभाकर

२२६
कहाली



मेरी
प्रिय
कहानियाँ

पहला संस्करण ■ १९७० ■ मूल्य पांच रुपये

मेरी प्रिय कहानियां ■ कहानी-संकलन

लेखक ■ विष्णु प्रभाकर ©

प्रकाशक ■ राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मुद्रक ■ हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-६



भूमिका

मैं नहीं जानता कि सप्टा को अपनी मृष्टि में ऐसा कुछ भी लगा है जो उसे प्रिय न हो। जो उमका है, जो दिगी न किसी रूप में उमका संत है, वह उम प्रिय होगा ही। कौन अधिक प्रिय है, कौन कम, यह बताना भी प्रायः असम्भव हो जाता है। इसलिए यदि मैं यह बताने में अपने को असमर्थ पाता हूँ कि मेरी प्रिय कहानियाँ कौन-सी हैं, तो मुझे बहुत दुःख नहीं होगा। मैं सभीका सप्टा हूँ, जनक भी, जननी भी। इसलिए सभी मुझे प्रिय हैं। लेकिन यह सब कुछ कह देने पर भी प्रश्न तो बना ही रहता है। मुझे अपनी प्रिय कहानियों का एक सफ़ल संसार करना ही है।

करने बैठा हूँ तो एक के बाद एक कहानी भागों के सामने उभर उठती है। संख्या पचास तक पहुँच जाती है, लेकिन नहीं, इस संख्या को घटाना होगा। १६ में अधिक की गुंजाइश नहीं है। कौनो सुगीयन है? पर आदेश का पालन तो होना ही है।

और उम आदेश का परिणाम है यह सप्टा। गह्र भाव से यह सब कुछ नहीं हुआ है। इसलिए मेरा यह दावा भी नहीं है कि केवल और केवल ये ही कहानियाँ मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। ही सचता है निगी और अक्सर पर मैं बिन्ही दूगरी कहानियों को प्रिय कह बैटू।

ही, एक बात अवश्य कहूँगा—कुछ कहानियाँ मैंने ऐसी अवश्य लिगी

हैं, जिनके पीछे आग्रह मेरा नहीं था, लेकिन वैसे साहित्य को मैंने प्रायः ही स्वीकार नहीं किया है। पास भी नहीं रखा है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कहानियां हो सकती हैं, जिनमें अपने-आपको जैसा मैं चाहता था वैसे व्यवस्त नहीं कर पाया, पर लिखी वे अवश्य गईं। वैसे कहानियां शायद मुझे प्रिय न लगें, पर उसमें भी अपराध मेरा ही है, कहानियों का नहीं।

यदि यह कहना अपने-आपमें कठिन है कि मेरी प्रिय कहानियां कौन-सी हैं, तो यह बताना तो प्रायः असम्भव है कि वे प्रिय क्यों हैं? कोई किसीको प्रेम क्यों करता है? क्या यह बताया जा सकता है? और क्या सचमुच प्रेम किया जाता है? वह तो हो जाता है। सो, मेरी ये कहानियां मुझे प्रिय हैं, अच्छी लगती हैं, इससे अधिक मैं कहना नहीं चाहूंगा।

लेकिन इससे क्या छुटकारा मिल जाता है? लेखक आज मात्र लेखक नहीं रह गया है, वह आलोचक भी है। इसीलिए उसे कटघरे में खड़ा करके उससे साधिकार पूछा गया है—बताना होगा तुम्हें ये कहानियां क्यों प्रिय हैं?

बताना होगा तो बताना ही होगा। अपने आलोचकों की चिन्ता किए बगैर मैं विश्वास के साथ इतना कह सकता हूँ कि मैंने हमेशा मानव की खोज में तीर्थ-यात्रा की है। मानव जो इसी धरती का है, अर्थात् जो यथार्थ को जीता है। यथार्थ के चित्रण के लिए भले ही मैं यथार्थवादी शैली का सहारा न ले सका होऊँ, उसे मैं आवश्यक भी नहीं मानता पर अन्ततः मेरा उद्देश्य यथार्थ को जीने वाले मानव की खोज ही रहा है। मेरी कला की असमर्थता, मेरी कामना की पगुंता नहीं है।

एक विदेशी लेखक ने मेरी अत्यन्त लोकप्रिय कहानी 'धरती अब भी घूम रही है' को प्रचार-मात्र बताने हुए, मुझे लिखा था कि कहानी व्यक्ति की होनी चाहिए। लेकिन मैं क्या करूँ? यह दोष मेरा नहीं युग का है। आज का युग व्यक्ति का है, मेरा मनुष्य का था। इसलिए मेरी अधिकतर कहानियां मनुष्य की हैं, व्यक्ति की नहीं। मनुष्य में ही मेरी अधिक रूचि

रही है। उसके जीवन में जो झूठ और पाखण्ड मैंने देगा-सहा है, वही मेरी कहानियों में उमर आया है। यह झूठ और पाखण्ड जीवन के हर स्तर पर है। इस संग्रह की ये साठ कहानियाँ उसका प्रमाण है: (१) धरती अब भी घूम रही है, (२) ठेका, (३) भोगा हुआ यथार्थ, (४) जहरत, (५) डोलक पर एक धाप, (६) शतरूपा की मौत, (७) आकाश की छाया में और (८) एक रात : एक शव। इनका पाखण्ड-काल सापेक्ष नहीं है। निरवधि काल का पाखण्ड अर्थात् मानव-मन का पाखण्ड है। 'धरती अब भी घूम रही है' मात्र अष्टाचार को विहित नहीं करती, उसके होने की गहराई में भी जाती है और मानवीय संवेदना को उभारती है। यह मात्र कल्पना नहीं है, आखें खुली रखने पर इसके पात्र जीवन में कहीं न कहीं आपके पास में गुजर जाते दिखाई देंगे। इसकी प्रेरणा की बात कहूँ। एक दिन ऐसे ही एक अफसर की चर्चा चल रही थी। पास में एक छोटी-सी बच्ची बैठी थी। सुनकर वह सहज भाव से बोली, "ताऊ जी, अफसर मृतमूरत लडकी को लेकर क्या करते हैं?"

सुनकर मैं काप उठा था और वह कम्पन में उतर गया था। यह कहानी उसी कम्पन का परिणाम है। बच्चों को पास में देखने और अध्ययन करने के अवसर मुझे मिले हैं। उनकी संवेदनशीलता और निरीक्षण करने की शक्ति से मैं प्रभावित हुआ हूँ। वे जो कुछ कह और कर जाने हैं, उसपर सहसा विश्वास नहीं होता। क्या यही बात इस कहानी के बच्चों के बारे में नहीं कही जा सकती?

इस कहानी की यमोगाथा देश की भीमा लाप गर्द, लेकिन 'ठेका' कहानी की मुचित्रनों ने प्रायः उपेक्षा की है। यह उपेक्षा ही इसके प्रति मेरे प्रेम का एक और कारण बन गई। वैसे इसकी प्रशंसा न हुई हो यह बात नहीं। एक बन्धु ने मुझे लिखा था—“अगर आपने यह कहानी मुगल-काल में लिखी होनी तो आपके हाथ काट दिए जाते।”

कुछ और मित्रों ने भी इसे 'धरती अब भी घूम रही है' से श्रेष्ठ माना है, लेकिन यहाँ तो बच्चों के प्रेम की है। आलोचकों ने निन्दा 'धरती

अब भी घूम रही है' की भी की है पर मुझे दोनों ही प्रिय हैं। 'भोगा हुआ यथार्थ' के हर पात्र से मैं परिचित रहा हूँ। कहूँगा, उस कहानी का एक पात्र मैं स्वयं भी हूँ। इससे अधिक इसके प्रिय होने का और क्या कारण हो सकता है? 'जरूरत' एक और स्तर पर पनपने वाले पाखण्ड की कहानी है और एक सत्य घटना पर आधारित है। इस घटना की मार्मिकता ने मेरे मन को छुआ और उसीके परिणामस्वरूप इस कहानी का जन्म हुआ। 'ढोलक पर एक थाप' एक और स्तर को छूती है। नौकरशाही के पात्रों का दम्भ उसमें मूर्त हो सके, यही प्रयत्न मेरा रहा है। इसमें भी मैं एक पात्र के रूप में मौजूद हूँ। जहाँ मैं हूँ, वह मुझे प्रिय न होगा तो क्या होगा? 'शतरूपा की मौत' वास्तव में औरत की मौत है। 'ईव और हव्वा' का नाम ही शतरूपा है। इसके पात्रों को मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ। और इसका 'मैं' मैं ही तो हूँ। लेकिन इस सबसे यह न समझ लिया जाए कि ये कहानियाँ किन्हीं व्यक्तियों के आस-पास जन्म लेती हैं। जैसा मैंने कहा, ये कहानियाँ व्यक्ति की नहीं, मनुष्य की हैं। 'आकाश की छाया में' के पात्रों से क्या आप अपरिचित हैं? लेखक के रूप में ही नहीं, व्यक्ति के रूप में भी मैं इन सबसे मिला हूँ। इसी प्रकार मिला हूँ 'एक रात: एक शव' के पात्रों से। समाज में फैले एक गुप्त कोढ़ का चित्रण इसमें हुआ है।

मैं इन कहानियों के कहानीपन की चर्चा नहीं करना चाहूँगा। मैं तो इतना ही कहना चाहूँगा कि मैं इन कहानियों में रमा हूँ, इसीलिए ये सहज भाव से मेरी कलम पर उतर आई थीं और इसीलिए ये मुझे प्रिय हैं। मैं यह नहीं कहता कि ये सभी पात्र उसी तरह बरतते, भोगते थे, जिस तरह मैंने इन कहानियों में दिखाया है, परन्तु जो अन्तर है वह भौतिक शरीर का है, मन-आत्मा का जरा भी नहीं। सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मैंने नहीं बताया है। भले ही यथार्थ के साथ यत्किंचित् अन्याय हो गया हो। आखिर मैंने कहानियाँ लिखी हैं दैनिक पत्रों के लिए रिपोर्ट नहीं।

आज का युग पीढ़ियों के संघर्ष का युग है। यह संघर्ष अपने युग में

हमने भी सहा है, पर भाज जैसे वह चरम परिणति पर पहुँच रहा है। भीड़ बढ़ जाने के कारण अस्तित्व का सघर्ष जो है। इस संग्रह की तीन कहानियाँ (१) बेमाता, (२) खिलौने, (३) फास्टिल, इंसान और... किसी न किसी रूप में उसी सघर्ष को चित्रित करती है। यथासम्भव मैंने इन कहानियों में सत्य को ही स्वर देने का प्रयत्न किया है, फिर चाहे वह किसीके विरुद्ध हो। लेकिन ऐसा करते हुए मैंने मानव की सहज संवेदना अर्थात् सहज मानवीय सम्बन्धों से मुक्ति पाने की चेष्टा नहीं की है। समन्वय और सहयोग में मेरा विश्वास है। बिना एक-दूसरे को समझे वह सम्भव नहीं हो सकता। वही ममभ किसी न किसी रूप में इन कहानियों में लाने का मैंने प्रयत्न किया है। 'प्रयत्न' शब्द शायद गलत है। किया मैंने कुछ भी नहीं। जो अन्तर में था वही तो उतर आया है। इसीलिए ये कहानियाँ मुझे प्रिय हैं। इन कहानियों के बुजुर्ग बुजुर्ग होकर भी समझने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। जहाँ दर्प है, वह भी सृजनात्मक है। मैं जो हूँ वह हूँ। वही बात मेरे सृजन में प्रकट हुई है; जहाँ जितने सहज भाव से प्रकट हुई उतनी ही अधिक वह मेरे प्रेम का कारण बनी है। 'बेमाता' पाठको में काफी लोकप्रिय हुई। लेकिन एक प्रबुद्ध आलोचक ने इसे निवृष्ट-तम बताया। इससे मेरा प्रेम घटा नहीं और भी बढ़ा।

इस संग्रह की दोष कहानियाँ नारीपन के रहस्यों को विभिन्न स्तरों पर उजागर करती है। 'राजम्मा', 'मभाव', 'नागकास', 'शरीर से परे', 'एक और दुराचारिणी' सभी के पात्र मेरे सामने जीने-जागने उपस्थित रहें हैं। 'मभाव' और 'नागकास' में नारी भा के रूप में उतरी है। दोनों ही कहानियाँ व्यक्तिवाचक नहीं हैं, जानिवाचक हैं। 'राजम्मा' व्यक्ति हो सकती है, पर इसी कारण झूठी नहीं है। मुझे उससे पूरी सहानुभूति है। मैं उससे प्रत्यक्ष नहीं मिलता, पर जिस मार्ग में वह मुझ तक पहुँची वह प्रत्यक्ष मिलने जैसा ही था। इसी तरह 'शरीर से परे' की रश्मि को मैंने पूरी संवेदना दी है। दिए बिना रह नहीं सका। उससे मैं मिलता भी हूँ। मैं स्वयं इस कहानी का एक पात्र हूँ। इसका प्रेम यथाव्यवहारी नहीं है, पर सत्य

अवश्य है। अल्पमत के कारण वह भूटा हो जाएगा, वह मैं नहीं मानता। अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में हिन्दी में इसे प्रथम पुरस्कार मिला था। कुछ आलोचकों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की, कुछ ने उतनी ही निन्दा। पाठक भी इसी प्रकार विभाजित थे। एक पाठक ने तो मुझे जान से मार डालने तक की धमकी दे डाली थी, क्योंकि उसकी राय में मैंने भारतीय संस्कृति पर प्रहार किया था। यह आरोप तो 'एक और दुराचारिणी' पर भी लगाया जा सकता है पर मेरी दृष्टि में वह घृणा की नहीं कष्टना और सहानुभूति की पात्र है। यह कहानी पढ़कर आप भी मुझसे सहमत होंगे। वही सहानुभूति मैंने उसे दी है। कहूंगा यह कहानी प्रायः सत्य ही है।

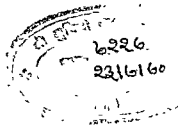
मैं जानता हूँ कि मैं आपके प्रश्न का उत्तर अब भी अच्छी तरह नहीं दे पाया। अपने बचाव में विश्लेषण करने बैठ गया। अपना यह अपराध मुझे स्वीकार करना ही होगा, लेकिन इस अपराध पर मैं लज्जित नहीं हूँ। मैंने अपनी बात कह दी है। इसे मोह कहा जा सकता है। जहाँ तक आप पाठकों का सम्बन्ध है, लगभग सभी कहानियों को आपने प्यार दिया है। किसीको कम किसीको ज्यादा। उस सम्बन्ध में मुझे कोई शिकायत नहीं। मैं जो हूँ, वही तो रहूंगा। जैसा मैंने बार-बार कहा है, मैंने ये सभी कहानियाँ बड़े सहज भाव से लिखी हैं, क्योंकि इनमें से प्रायः सभीके सत्य को मैंने सहा और भोगा है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कहना चाहूंगा।

३० जनवरी, १९७०
 ८१८, कुण्डेवालान,
 अजमेरी गेट, दिल्ली-६

—विष्णु प्रभाकर

क्रम

घरती सब भी धूम रही है	१३
ठेका	२३
भोगा हुआ यद्यर्थ	३०
बेमाता	४८
जूरुरत	६४
राजम्मा	७१
ढोलक पर बाप	८२
खिलीने	९४
फास्सिल, इन्सान और...	१०८
सभाव	११६
शतरूपा की मौन	१२६
शाकाव की छाया में	१३८
नाग-फांस	१४५
शरीर से परे	१५७
एक रात : एक शव	१७७
एक और दुराचारिणी	१८६



धरती अब भी घूम रही है

श्यामु नीना की दस वर्ष की भी नहीं थी लेकिन बुद्धि काफी प्रोढ़ हो गई थी। जैसा कि अबसर मातृहीन बालिकाओं के साथ होता है, बुजुर्गी ने उसके लिए श्यामु का बन्धन ढीला कर दिया था। इसलिए अब उसने सुना कि कुछ दूर पर सोया हुआ उसका छोटा भाई मुबक रहा है, तो वह चुपचाप उठी। एक क्षण भयानुरदृष्टि से चारों ओर देखा, फिर उसके पास आकर बैठ गई।

तब रात आधी बीत चुकी थी और चांद अभी का अस्त हो चुका था, फिर भी कुछ दूर पर सोते हुए उनके मोमा के परिवार के दूध-से घुले कपड़े अन्धकार की कालस में चमक रहे थे जैसे तमनावृत शमशान में अग्नि के स्फुल्लिंग। वही चमक नीना के नन्हे-से दिम में कमक उठी। किसी तरह स्लाई रोककर उसने धीरे से पुकारा, "कमल - धो कमल..."।

कमल आठवें वर्ष में चप रहा था। उसके छोटे-से सटोले पर एक फटी-सी दरो बिछी थी। उसपर वह लेटा था गुडमुड़, पैर उसने पेट से सटा रमे थे और मुह को हाथों से ढक रखा था। रह-रहकर उसका पेट सिंकुटता और मुबकिया निकल जाती। उसने बहिन की पुकार का कोई जवाब नहीं दिया। नीना भी इनकी सहमी हुई थी कि दूसरी बार पुकारने का साहस न बटोर पाई। चुपचाप कमर सहनाती रही, देखती रही। कई क्षण बीत

१४ मेरी प्रिय कहानियां

गए तो उसे सीधा करके उसका मुंह अपने दोनों हाथों में ले लिया। तब उसकी आंखें डबडबा आईं और आंसू ढुलककर कमल के मुख पर जा गिरे। कमल कुनमुनाया, फिर आंखें बन्द किए-किए बोला, “जीजी !”

नीना ने चौंकेकर कहा, “तू जाग रहा था रे ?”

“नींद नहीं आती...जीजी, पिताजी कब आएंगे ? जीजी, पिताजी के पास चलो।”

“पिताजी...!”

“हां जीजी ! ...पिताजी के पास चलो। आज मुझे मौसाजी ने मारा था। जीजी, गिलास तोड़ा तो प्रदीप ने और मारा हमें...जीजी, यहां से चलो।”

नीना ने अनुभव किया कि कमल अब रोया, अब रोया। वह विह्वल हो उठी। उसने अपना मुंह उसके मुंह पर रख दिया और दोनों हाथों से उसे अपने वक्ष में समेटकर वह ‘शिशु-मा’ वहीं लेट गईं। बोली वह कुछ नहीं। बस, उस स्तब्ध वातावरण में उसे जोर-जोर से थपथपाती रही और वह सुबकता रहा, बोलता रहा, “जीजी ! आज मौसी ने हमें बासी रोटी दी। सारा हलुआ प्रदीप और रंजन को दे दिया और हमें बस खुरचन दी; और जीजी, जब दोपहर को हम मौसाजी के कमरे में गए तो हमें घुड़ककर निकाल दिया। जीजी, वहां हमें क्यों नहीं जाने देते ? जीजी, तुम स्कूल से जल्दी आ जाया करो। जीजी, पिताजी को जेल में क्यों बन्द कर दिया ? वहां पिताजी को रोटी कौन खिलाता है ? हम वहां क्यों नहीं रहते ? प्रदीप कहता था, तेरे पिताजी चोर हैं।...”

तब एकवारगी अपने को धोखा देती हुई नीना जोर से बोल उठी, “प्रदीप भूठा है।”

और कहकर अपनी ही आवाज पर वह भय से थर-थर कांप आईं। उसने कमल को जोर से अपने में भींच लिया। कमल को लगा जैसे जीजी बड़े जोर से हिल रही है, हिलती जा रही है, हिलती चली जा रही है। हालन आ गया क्या ? उसने घबराकर कहा, “जीजी, जीजी, क्या है ?”

तुम्हें बुझार आ गया है ?”

“बुप, बुप । मौसी आ रही है ।”

मचमुच कोई उठकर जल्दी-जल्दी उनके पास आया और कड़ककर पूछा, “क्या है, क्या है नीना, कमल, क्या है रे ? ...ओहो ! माई से लाठ लड़ाया जा रहा है ! मैं कहती हूँ नीना ! तू यहां क्यों घाई ? भरी बोनती क्यों नहीं ? ... ओहो, बड़े बेचारे गहरी नींद में सोए हैं ! अभी तो बड़ी गुटर-गुटर मेरी गिकायत हो रही थी ! जैसे मैं जानती ही नहीं ... हाय रे मेरी किरमत् ! ...ओ बहिन ! तू खुद तो भर गई, पर मुझे इस तरह में छोड़ गई...”

सहसा मौसा हड़बड़ाकर उठ बैठे; पूछा, “क्या बात है ? क्या हुआ ?”

“हुआ मेरा गिर । दोनो भागने की सलाह कर रहे हैं ।”

“कौन भागने की सलाह कर रहा है ? नीना-कमल ? भरे, कुछ लिपा तो नहीं ? धनमारी को चावी तो है ? रात ही तो पाच सौ रुपये लाकर रखे हैं । भरे, तुम बोनती क्यों नहीं ? क्यों री नीना ! कहाँ है रुपया ?”

बोलते-बोलते मौसा उठकर वहीं भा गए, जहां दोनों बच्चे एक-दूसरे में निमटे, मकपकाए, कबूतर की तरह आर्से बन्द किए पड़े थे । मौसी ने तुनककर कहा, “क्या पता क्या-क्या निकालते, वह तो मेरी आंख खुल गई ।”

और फिर मपटकर नीना को उठाते हुए कहा, ‘चल अपनी खाट पर ! खबरदार जो पास गौए ! बाप तो धाराम से जेल में जा बैठे, मुसीबत डाल गया मुझपर । न लाती तो दुनिया मुह पर थूकती, बहिन के बच्चे थे । शहर की शहर में धातों में लिहाज न भाई । लेकिन कहने वाले यह नहीं देखते कि हमारे घर में क्या सोने-चांदी की खान है ? क्या खर्च नहीं होना ? पचाई किनारी महंगी हो गई है और फिर बच्चों की खुराक बड़ों से ज्यादा ही है ।’

रामे नहीं निकाले, इस बान से मौसा को परम सन्तोष हुआ । उन्होंने खाट पर बैठते हुए कहा, “मैं बहता हूँ तुम तो...”

१६ मेरी प्रिय कहानियां

“अब चुप रहो। भले ही चचेरी बहिन हो, हैं तो मेरी बहिन के वच्चे।”

“हां, तुम्हारी बहिन के वच्चे हैं तभी तो वहनोई साहब को रिश्वत लेने की सूझी और रिश्वत भी क्या ली, बीस रुपये की। वह भी लेनी नहीं आई। रंगे हाथों पकड़े गए। हूं, मैं रात पांच सौ लाया हूं। कोई कह दे, साबित कर दे।”

“इतनी बुद्धि होती तो क्या अब तक नीचे दर्जे का क्लर्क बना रहता !”

“और मजा यह कि जब मैंने कहा कि तीन सौ, चार सौ रुपये का प्रबन्ध कर दे, तुम्हें छुड़ाने का जिम्मा मेरा, तो सत्यवादी बन गए—मैं रिश्वत नहीं दूंगा। नहीं दूंगा तो ली क्यों थी? अरे लेते हो तो दो भी। मैं तो...”

मौसी ने सहसा घीमे पड़ते हुए कहा, “चुप भी करो, रात का वक्त है। आवाज बहुत दूर तक जाती है...”

काफी देर वड़बड़ाने के बाद जब वे फिर सो गए, तो दोनों बालक तब भी जागते पड़े थे। आंखों की नींद आंसू बनकर उनके गालों पर जमती जा रही थी। और उसके धुंधले परदे पर बहुत-से चित्र अनायास ही उभरते आ रहे थे। एक चित्र मौसी का था जो उन्हें रोते-रोते घर लाई थी और वह प्रेम दर्शाया था कि वे भी रो-रोकर पागल हो गए थे। लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गए, प्यार घटता गया और दया बढ़ती गई। दया जो ऊंच-नीच और दम्भ की जननी है। उसने उन्हें आज पशु से भी तिरस्कृत बना दिया...

एक चित्र मौसा का था जो तीसरे-चौथे बहुत-से नोट लेकर आते और उन्हें लक्ष्य करके कहते, “मैं कहता हूं कि उसने रिश्वत ली तो दी क्यों नहीं? अरे तीन सौ देने पड़ते तो पांच सौ बटोरने का मार्ग भी तो खुलता...”

एक चित्र पिता का था। पिता जो प्यार करता था, पिता जिसने रिश्वत ली थी, पिता जिसे जल में वन्द हुए दो महीने बीत चुके थे और

धभी सात महीने रोप थे ..

नीना ने सहसा दोनों हाथों से धपना मुंह भीच लिया। उसकी मुबकी निबलने वाली थी। उसने मन ही मन विह्वल-विह्वल होकर कहा, पिताजी! धव नहीं सहा जाता। धव नहीं सहा जाता। मौमा तुम्हारे कमल को पीटते हैं। पिताजी, मुप घा जाओ। धव हम उग म्भूष में नहीं पढ़ेंगे। धव हम बड़िया कपड़े नहीं पहनेंगे। पिताजी, तुमने रिदवन मी थी तो देने क्यों नहीं...बयो...बयो ..

इस प्रकार मोचने-सोचते उसकी बन्द घातो के धग्यकार में पिता की मूनि धीर भी विपान हो उठी...एक धपेठ ध्यक्ति की मूनि, जिनकी धांगों में ध्यार था, जिनकी धाणी में मिठाम थी, जिनने दोनों बच्चों को नये स्कूल में भर्ती करवा रता था; जहाँ उन्हें बोर्ड मारता-भिदबता नहीं था, जहाँ गारना मिलता था, जहाँ वे तम्बोरें काटने थे, गिननीने बनाने थे...

धीर धर में पिता उनके लिए गाना बनाना था, धच्छी-धच्छी गिनाने साता था, फन साता था। उनकी मा के मरने धर उधने दूमरो धादी तक नहीं की थी...

नीना ने ये सब धाते पत्रोमियों के मुद्द मुनी। ये सब उधके पिता की धड़ी तारीफ करते। उसने धपने धानों से पिता की धह बहने मुना धा कि रिदवन सेना पाप है। सेबिन फिर उधहीने रिदवन मी...बयो मी... धागिर बयो...?

पत्रोमिन बहनी, "उतका गधें बहून धा, धीर धामदनी कम। बह बच्चों को धच्छी गिधा दिसाना धाहना धा, धीर मुप जानी धच्छी गिधा बहून म्हयो है..."

महगी...महसी धी तो उधने रिदवन मी। महसी होना बग होना है... धीर धव पिता बंसे धूरेने? मोसा बहते थे, "जब की रिदवन देते तो धूट जाने। एध जब ने तीन हबार सेकर एध डारू की धोड़ दिसा धा। एक धामदमी जिनने एक धीरत को गार धाया धा, उधेभी जब ने धोड़ दिसा धा। धीध हबार लिए थे..." धाध हबार बिधने होते है? धी...ह्यर...

१८ मेरी प्रिय कहानियां

दस...हजार...लाख...ये कितने होते हैं...

मौसा कहते थे, "रिश्वत और तरह की भी होती है। एक प्रोफेसर ने एक लड़की को एम० ए० में अर्जेंट कर दिया था क्योंकि वह खूबसूरत थी..."

नीना ने सहसा दृष्टि उठाकर आसमान में देखा। तारे जगमगा रहे थे और आकाश-गंगा का स्रोत घबल ज्योत्स्ना में लिपटा पड़ा था। उसने सोचा, यह सब कितना सुन्दर है! क्या यहां भी रिश्वत चलती है?

उसकी सुबकियां अब बिलकुल वन्द हो चुकी थीं और वह बड़ी गम्भीरता से सुनी-सुनाई बातों को याद कर रही थी, पर समझ में उसकी कुछ नहीं आ रहा था...खूबसूरत होना भी क्या रिश्वत है? मौसा कहते थे कि गंजे हाकिम के पास खूबसूरत लड़की भेज दो और कुछ भी करवा लो...खूबसूरत लड़की और रुपया, रुपया और खूबसूरत लड़की—इन्हें लेकर जज और हाकिम काम क्यों कर देते हैं? क्यों...क्यों...और खूबसूरत लड़की का वे क्या करते हैं? काम करवाते होंगे, पर काम तो सभी करते हैं...फिर खूबसूरत लड़की ही क्या? ...और उसके मौसा बहुत-से रुपये लाते हैं, पर लड़की कभी नहीं लाते...

उसकी समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन इसी उबेड़-बुन में रात न जाने कहां चली गई, यह जाना न जा सका। एकाएक मौसी की पुकार ने उसकी तन्द्रा को तोड़ दिया। हड़बड़ाकर आंखें खोलीं तो मौसी कह रही थी, "नीना, ओ नीना! अरी नहीं उठेगी? पांच वजे हैं।"

पांच...! अभी तो पहरेआ तीन की आवाज लगा रहा था और आकाश-गंगा का मार्ग कैसा चमचम कर रहा था! इसी रास्ते तो स्वर्ग जाते हैं।

मौसी फिर चीखी, "अरी सुना नहीं नीना? कब से पुकार रही हूं। दोनों भाई-बहिन कुम्भकर्ण से बाजी लगाकर सोते हैं। चल जल्दी। चौका-वासन कर। मैं आती हूं..."

नीना ने अब अंगड़ाई लेने का नाट्य किया। फिर कुनमुनाती हुई उठी,

“जा रही हूँ मौसी ।”

जीने तक जाकर न जाने उसे क्या याद आया, वह कमल के पास गई और बड़े प्यार से कान से मुह लगाकर उसे पुकारा । फिर उत्तर की प्रतीक्षा न करके उस कौली में समेटकर नीचे लिए चली गई ।

धीरे जब दो घंटे बाद मौसी नीचे उतरी तो स्तब्ध रह जाना पड़ा । रमोईघर जैसे दूध में घोया गया हो । लकड़क-लकड़क, मँस की कहीं छाया तक नहीं । चर्तन चादी-से चमचमा रहे थे । बार-बार अविश्वास से भाएँ मगकर ठगी-सी मौमी बोली, “भाज क्या बात है नीना ?”

“कुछ नहीं मौसी ।” नीना से सकपकाकर उत्तर दिया ।

“कुछ नहीं कैसे ? ऐसा काम क्या तू रोज करती है ?”

कमल ने एकदम कहा, “मौसी ! भाज पिताजी यात्रेगें !”

“पिताजी... !”

मौसी ने अविश्वास और आशंका से ऐसे देखा कि कमल सहमकर पीछे हट गया । कई क्षण उस स्तब्ध वातावरण में वे प्रस्तर-प्रतिमा बने रहे, फिर जैसे जागकर मौसी बोली, “तो यह बात है ! बाप के स्वागत के लिए रमोईघर सजाया गया है !”

फिर एकाबारगी बड़े जोर से हसी ; बोली, “पर रानीजी, अभी तो पूरे सात महीने बाकी हैं, सात महीने । बाह रे, बाप के लिए दिल में कितना दर्द है ! इसका पामन भी हमारे लिए होता तो...”

नीना की काया एकाएक पीली पड़ गई । आग्नेय नेत्रों से कमल की ओर देखती हुई वह बहा से चली गई । उस दृष्टि से कमल सहम गया पर उसे अपने अपराध का पता तब लगा जब वह हो चुका था । स्कूल जाते समय रास्ते में नीना ने इस अपराध के लिए कमल को खूब डाटा । इतना डाटा कि वह रो पड़ा । रो पड़ा तो उसे छाती से लगाकर खुद भी रोने लगी ।

इसी समय वहाँ से बहुत दूर एक मुमज्जित भवन में मुक्त अट्टहास

गूँज रहा था। छोटे न्यायमूर्ति आज विशेष प्रमत्न थे। उनकी छोटी पत्नी मनमोहिनी को कमीशन ने सांस्कृतिक विभाग में डिप्युटी डायरेक्टर के पद के लिए चुन लिया था। मित्र बधाई देने आए हुए थे। उसी हर्ष का यह अट्टहास था। यद्यपि वाकायदा चाय-पार्टी का कोई प्रबन्ध नहीं था, तो भी मेज पर अच्छी भीड़भाड़ थी। अंग्रेज लोग चाय पीते समय बोलना पसन्द नहीं करते थे, पर भारतवासी क्या अब भी उनके गुलाम हैं! वे लोग जोर-जोर से बातें करते थे। मनमोहिनी ने चाय पीते हुए कहा, “मुझे तो आशा नहीं थी, पर सचिव साहब की कृपा को क्या कहूँ...!”

सचिव साहब बोले, “मेरी कृपा! आपको कोई ‘न’ तो कर दे? आपकी प्रतिभा...”

डायरेक्टर कह उठे, “हां, इनकी प्रतिभा! सांस्कृतिक विभाग तो है ही नारी की प्रतिभा का क्षेत्र।”

सचिव साहब के नेत्र जैसे विस्फारित हो आए। प्याले को ठक् से मेज पर रखते हुए उन्होंने कहा, “क्या बात कही है आपने! ...संस्कृति और नारी दोनों एक ही हैं। नाट्य, नृत्य, संगीत और कविता...”

“और प्रचार?”

“अरे, नारी से अधिक प्रचार कर पाया है कोई!”

इसी समय वंदे ने आकर सलाम भुकाई। तार आया था। खोलने पर जाना—छोटे न्यायमूर्ति के बड़े बेटे की नियुक्ति इन्कमटैक्स आफिसर के पद पर हो गई है। उसे मद्रास जाना होगा।

“क्या, क्या,”—कहते हुए सब तार पर झपटे। हर्ष और भी मुखर हो उठा। छोटे जज ने अट्टहास करते हुए अपनी पत्नी से कहा, “देखा निर्मल! मुझे विश्वास था, शर्मा मेरी बात नहीं टाल सकता। और मेरी बात भी क्या! असल में वह तुम्हारा मुरीद है। कहता था औरत...”

बात काटकर सचिव साहब बोले, “जी नहीं, यह न आप हैं और न श्रीमती निर्मल। यह तो आपकी कौटुम्बिक प्रतिभा है।”

इसपर सबने स्वीकृतिमूवक हर्ष-ध्वनि की। छोटे न्यायमूर्ति इसका प्रतिवाद कर पाने कि बीरे ने आकर फिर सलाम किया। विस्मित-से डायरेक्टर बोले, "इस बार किसकी नियुक्ति होने वाली है?"

बीरे ने कहा, "दो बच्चे हज़ूर से मिलने आए हैं।"

"हमसे?" न्यायमूर्ति अचकचाकर बोले।

"जी।"

"किसके बच्चे हैं?"

'जी, मालूम नहीं। भाई-बहिन हैं। गरीब जान पड़ते हैं।"

"घरे ली बेवकूफ! कुछ दे-दिवाकर लौटा दिया होना।"

"बहुत कोशिश की, पर वे कुछ मागते ही नहीं। वस, आपसे मिलना मागते हैं।"

छोटे न्यायमूर्ति तेजी से उठे। मुझ उनका विवृत हो घामा, पर न जाने क्या सोचकर वे फिर बैठ गए। कहा, "भाज खुशी का दिन है। यहीं से था।"

दो धाण बाद, बुरी तरह गहमे-अकपकाए जिन दो बच्चों ने वहाँ प्रवेश किया वे नीना और कमल थे। आमुषो के दाग अभी गालों पर रोप थे। दृष्टि से भय भरा पड़ता था। एकसाथ सबने उनको देखा जैसे मंदिरा के प्याले में मक्खी पड़ गई हो। छोटे न्यायमूर्ति ने पूछा, "बहाँ से आए हो?"

"जी...जी..." नीना ने कहना चाहा पर मुह से शब्द नहीं निकले और वावजूद सबके आदरागम के वे कई क्षण हतप्रभ, विमूढ़, अचकचाके देगते ही रहे, वस देगते ही रहे। आगिर मनमोहिनी उठी। पान आकर बोली, 'कितने प्यारे, रितने गुन्दर बच्चे हैं...।"

दुन दाबो में न जाने क्या था। नीना को जेने करट छु गई। एक-बारगी दूध पण्ड से बोल उठी, "आपने हमारे पिताजी को जेल भेजा है। आप उन्हें छोड़ दें..."

कमल ने उगी दृढ़ता से कहा, "हमारे पान पचाम रन्दे है। आपने

२२ मेरी प्रिय कहानियां

तीन हजार लेकर एक डाकू को छोटा है.....”

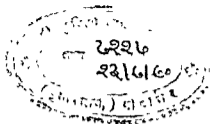
नीना बोली, “लेकिन हमारे पिताजी डाकू नहीं हैं। महंगाई बढ़ गई थी। उन्होंने बीम रुपये की रिश्तत ली थी।”

कमल ने कहा, “रुपये थोड़े हों तो...”

नीना बोली, “तो मैं एक-दो दिन आपके पाग रह सकती हूँ।”

कमल ने कहा, “भेगी जीजी खूबमूरत है और आप खूबमूरत नड़कियों को लेकर काम कर देते हैं.....”

रटे हुए पार्ट की तरह एक के बाद एक जब वे दोनों इस प्रकार बोल रहे थे तो न जाने हमारे कथाकार को क्या हुआ; वह वहां से भाग खड़ा हुआ। उसे ऐसा लगा जैसे धरती सूर्य की चुम्बक-शक्ति से अलग हो रही है। लेकिन ऐसा होता तो क्या हम यह ‘पुनश्च’ लिखने को बाकी रहते? धरती अब भी उसी तरह घूम रही है।



ठेका

धीरे-धीरे बहुराशियों का घोर घात हो चला घोर मेहुमान एक-एक करके विदा होने लगे। लकड़क करती ठेकेदारों की फंशनेयन बोविया घोर घपने को घब भी जवान मानने वाली छांटे घकमरो को घघेड परवानिया, नमी ही-ही करनी, घमकती, दूठवागी चली गई, लेकिन रोगननान की पत्नी तब तक घाई भी नहीं। वह कई बार बीघ में से उठकर होटल के बाहर गया। खाने-पीने, बातें करते, उसकी दृष्टि बराबर द्वार की घोर लगी रही पर सन्तोष उसे नहीं दिखाई दी, नहीं दिखाई दी। महवान नहीं कि सन्तोष को इस पार्टी का पना नहीं था, इसके विपरीत अपने रोगननाल को कई बार इस पार्टी की माद दिखाई थी। घात्र मन्वेरे उनसे विशेष रूप से कहा था, "राजबिघोर घाम को बेगर में पार्टी दे रहे हैं। भूनिष्ठा नहीं।"

"तुम नहीं खतोमी?"

"क्यों नहीं खतूमी, लेकिन घापके साप न खत सकूमी।"

"क्यों?"

"मुझे घपनी एक सहेली में मिलना है। मैं वहीं घा जाऊंगी।"

घोर इनसे पर भी वह नहीं घाई। वह पार्टीको की घोरौन है, बिघोर-घर होटल में ही घई पार्टी में बहमी काम छोड़कर जाती है। रोगन का

२४ मेरी प्रिय कहानियां

मन खट्टा होने लगा। उसे क्रोध भी आया, पर ऊपर से वह शांत बना रहा। यही नहीं, उसने कहकहे लगाए और जैसा कि पार्टियों में होता है, उसने उपस्थित नारियों के बारे में अपनी बेलाग राय भी प्रकट की, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर नुवताचीनी की, पर अपनी पत्नी की अनुपस्थिति के बारे में वह किसीका समाधान न कर पाया।

एक मित्र ने चुटकी लेते हुए कहा, “रोशन और सन्तोष आदर्श दम्पती हैं। एक-दूसरे के काम में विलकुल दखल नहीं देते।”

दूसरे बोले, “देना भी नहीं चाहिए। पति-पत्नी दोनों बराबर के सांभोदार हैं।”

तीसरे ठेकेदार मित्र कुछ गम्भीर थे। कहने लगे, “यह तो ठीक है लेकिन स्त्री आखिर स्त्री है। उसे ढील चाहे कितनी दो पर रस्सी अपने ही हाथ में रखनी चाहिए।”

इसपर एक कहकहा लगा और वही कहकहा रोशन की छाती में झूल की तरह कसक उठा। उस क्षण आवेग के कारण वह कांपने लगा, मुख तमतमा आया और उसने चाहा कि वह भाग जाए। पर यह सब अतिरेक था। प्रकट में वह भी मुक्त भाव से हंसा और बोला, “जी नहीं, मैं मदारी नहीं हूँ जो वन्दरिया को नचाया करूँ।”

कहकहों की आवाज और भी तेज हो उठी और उसीके बीच एक महिला ने कहा, “होशियार रहिए। यह जनतन्त्र का युग है। इसमें वन्दरिया मदारी को नचाने लगी है।”

“कोई अन्तर नहीं। दोनों रस्सी में बंधे हुए हैं और दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे को नचा रहे हैं,” एक और साथी अट्टहास बखेरते हुए बोल उठे।

“वेशक आप ठीक कहते हैं। इसीका नाम विवाह है, और विवाह एक ठेका है।”

वह सज्जन अपना वाक्य पूरा कर पाते कि दूसरी अपेक्षाकृत युवती महिला तीव्रता से बोल उठी, “खाक है, आप लोगों के ऐसे विचार हैं तभी

तो तलाक की जल्दत पड़ी। नारी भय पुष्प की दामो नहीं रह सकती...”

घोर बह बहा से उठकर चली गई। जैसे कहवहो को पाला मार गया हो। उस मंज को महफिल फिर नहीं जमी। दूसरी मंजो पर उमी तरह विलविलाहट उठती रही पर रोशन का मन नहीं लगा। उगने चाहा कि सुरम्त उठकर चला जाए पर शायद सन्तोप भय भी घा जाए, इसी तानन में बह घन्त तक टका रहा घोर जब उसने राजकिशोर घोर उसकी पत्नी ध्यामा से विदा ली तो राजकिशोर ने पूछ ही लिया, “घाखिर सन्तोप रही बहा ?”

रोशन बोला, “समझ में नहीं घाता। घाने का पक्का बायदा करके गई थी। घायद...”

ध्यामा हस पड़ी, “शायद घायको मानूम नहीं। मैंने घात्र उन्हें साहब के साथ देला था।”

“मिस्टर वमा के साथ ?”

“जी हा।”

रोशन के मूय की खानिमा सहसा पीली पड गई। राजकिशोर ने मुह खिपाकर ध्यामा की घोर देला, मुस्कगया मानो बहना हो, “घोह, तौ यह बान है।” फिर रोशन से बहा, “कुछ भी हो। उमे घाना घाखिर था। मे बहत नाराज हू। उसने बह देना, समझे।”

रोशन ने किसी तरह हसने हुए बहा, “बह दूगा खनाब।”

घोर बह एक भटके के साथ घपने की जुझार बहा मे नीचे उतर गया। उमीके साथ राजकिशोर घोर ध्यामा को गायरत-भरी हमी भी उतरी। घगर बह मुन घाना तो ध्यामा बह रही थी, “सन्तोप मुझे पराखित करना घाहती है पर...”

लेकिन रोशन कुछ भी मुनने की खिनि में न था। उमका तन-मन झुसम रहा था घोर घापेश के कारण घेर हगमगा रहे थे। घंप के कारण या खानि के, कुछ पना नहीं। पर बह बिखारी के तृपन में पक गया था। उन्हीमें उनम-उमभर उसकी बुजि बार-बार लड़गड़ा पड़ती थी — “बह

२६ मेरी प्रिय कहानियां

क्यों नहीं आई। आखिर क्यों? क्या वह सचमुच ब्रमा के साथ थी? सचमुच...लेकिन उसने मुझसे क्यों नहीं कहा? मुझसे क्यों छिपाया? क्यों, आखिर क्यों? उसका इतना साहस कैसे हुआ? कैसे...”

अन्तिम वाक्य उसने इतने जोर से कहा कि वह स्वयं चींक पड़ा। आसपासवाले व्यक्ति उसे अचरज से देखने लगे, पर दूसरे ही क्षण वह फिर तूफान में खो गया। वह जानता है कि सन्तोप बड़ी सामाजिक है। खूब मिलती-जुलती है। सरकारी विभागों के प्रमुख कर्मचारियों से उसकी काफी रव्व-जव्व है। इसका प्रारम्भ उसीने तो कराया था। नहीं तो वह इतनी लजीबी थी कि उसके सामने भी नयन नहीं उठाती थी...।

वह कांप उठा। एक के बाद एक सिहरन तरंग की भांति एड़ी से उठती और उसे मस्तिष्क तक भनभना देती। वह फुसफुसाया—इस सामाजिकता से उन्हें कितना लाभ हुआ है लेकिन...सन्तोप उमसे छिपकर कभी किसीसे नहीं मिलती। कभी उमसे कुछ नहीं छिपाती। कभी उससे दूर नहीं जाती। हां, कभी उमसे दूर नहीं जाती। जो कुछ करती है, उसके कहने से करती है। सन्तोप उसीकी है। सन्तोप रोशन की है...।

“नहीं नहीं”, वह चीख उठा, “राजकिशोर मुस्करा रहा था। उसकी मुस्कराहट का साफ यही मतलब था कि सन्तोप मेरी चिंता नहीं करती। मुझसे छिपकर अफसरों से मिलती है। मुझे धोखा देती है, चराती है, हर-जाई है...।”

वह तेजा से दौड़ने लगा। उसके हाथ कुलवुनाने लगे। वह किसीका गला घोटने को आतुर हो उठा। उसने न तांगेवाले की पुकार पर ध्यान दिया न बस के अड्डे पर रुका। अभी गर्मी नहीं आई थी। मार्च की सध्या हल्की-हल्की शीतलता से महकती आ रही थी पर वह पसीने से तर था। घर न जाकर वह यत्र की भांति मथुरा रोड की ओर मुड़ गया। अभी वहां कुछ हरियाली शेष थी। रेल का पुल पार करके वह उत्तर की ओर बढ़ा। उधर बंगले थे। कुछ ही देर में वह वहां पहुंच गया जहां मिस्टर ब्रमा रहते थे। वह उनके बंगले के पास ठिठका पर वहां सर्वत्र मौन था।

सब कुछ स्वस्थ मानो समूचा वातावरण रात्रि के शीतल आवरण में प्रवेश कर चुका हो। उमकी शिराओं का तनाव ढीला पड़ा। वह फुमफुमाया, "नहीं, यहाँ नहीं।"

लेकिन दूगरे ही क्षण वह फिर दीड़ने लगा। उम स्वस्थता में उसके घपने पैरो को पदचाप उम कपाने लगी। जलाशय के किनारे दूर-दूर तक फँसी हरी घास पर दो-चार रोमाण्टिक मृत्तियामुक्त वातावरण का आनन्द ले रही रही थी। उमका दिन धुकधुकाया घोर वह उनके पाम में होकर सरें से निकल गया।

वह फिर रेस्तग घोर फँसनेवल सामान वाले बाजार की घोर मुट गया घोर कुछ देर बाद विचारों के तूफानों के घेरे घाना हुआ घानदार रेस्तग के सामने धाकर रुक गया। वह घपने को वटोरने के लिए कुछ पीना चाहता था, पर जंमे ही द्वारपाल ने उसके लिए हिवाइ गोंवे घोर वह घन्दर दालिल हुआ वह नटगटाकर पीछे हट गया—सामने मनीष घोर यमा बँडे है। दोनों मुम्बरा रहे हैं। दोनों...

वह एकाएक हाफने लगा। गिरने-गिरने सचा घोर फिर द्वारपाल को चौंकाता हुआ तेजो से एक घोर चना गया। भागने लगा। भागता गया, भागता गया। तब तक भागता ही गया जब उमका घर नहीं द्या गया। रोसनी जम रही थी। दोनों बच्चे मो गए थे पर नोकर ऊप रहा था। उमने किसी घोर प्जान नहीं दिया। सीघा घपने पत्रप पर जाकर गिर पडा। बहुत देर तक पडा रहा। वह न मोच सकता था, न घपना बौई घग हिना सकता था। वह तब हर दृष्टि से मानो मर चुका था...

लेकिन महमा उमके घ्राप सोट घाए। वह उठकर बँठ गया। उमने निदस्य किया कि यह घाज मन्वीष को मार डालेगा, हा, मार डालेगा। जान से मार डालेगा। उमने उमे पार्टी में घपमानित करवाया। मिचो ने उमपर पबिदा बनी। उमे देगकर रात्र मुम्बरादा घोर द्यामा ने बूटही मो। द्यामाने, द्यामा जं... वह मनीष को मार डालेगा। उम मार डालेगा...

कि सहसा किवाड़ खुले और सतोप द्वार पर दिखाई दी। वह मुस्करा रही थी और उसके मंदिर नयनों में मुरा जैसे छलकी पड़ती थी। उसने आगे बढ़ते हुए कहा, “हलो डार्लिंग; तुमने रेस्तराँ का दरवाजा खोला और फिर चले आए। शायद तुमने हमें देखा नहीं। सामने ही तो थे। मिस्टर वर्मा भी थे...”

रोशन चीख उठा, “निलंज्ज ! मैं तुम्हें मार डालूंगा !”

संतोप ने चौंककर उसे देखा, “यह क्या कह रहे हो ? तुम्हारी तबो-यत तो ठीक है ? अरे, तुम तो कांप रहे हो ? मैं पार्टी में न आ सकी शायद इसीलिए...”

रोशन उठकर खड़ा हो चुका था और संतोप की ओर बढ़ रहा था। उसकी आंखें जल रही थीं। उसके मुख पर हिंसा उभर आई थी। उसके हाथ अकड़ रहे थे, पर संतोप ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। बोलती रही, “मैंने पार्टी में आने का बहुत प्रयत्न किया। मैं वहाँ आना चाहती थी पर श्यामा के कारण ऐसा न हो सका।”

रोशन और आगे बढ़ा। उसका मुँह और विकृत हुआ। हाथ ऐंठे...

लेकिन संतोप ने फिर भी कुछ ध्यान नहीं दिया। बोलते-बोलते वह रोशन के पास आई और उसके कंधे पर हाथ रख दिया। फिर नयन उठाकर उसकी आंखों में झाँका। रोशन का शरीर एकाएक झनझनाया पर उसने कड़ककर पूछा, “तुम कहां थीं ? मैं पूछता हूँ, तुम कहां थीं।”

संतोप निस्संकोच बोली, “तुम्हें क्रोध आ रहा है। आना ही चाहिए, पर मैं क्या करूँ ? श्यामा ने वर्मा को तभी छोड़ा जब पार्टी का समय हो गया। वह उसे वहाँ ले जाना चाहती थी। वह...वह ठेका लगभग प्राप्त कर चुकी थी...”

रोशन फिर कांपा पर अब उसका कारण दूसरा था। उसने तेजी से गर्दन को झटका दिया और संतोप को देखा, बोला, “क्या कहती हो ?”

“यही कि मैं वर्मा के साथ न रहती तो वह ठेका राजकिशोर को मिल जाता।”

“राजकिशोर को मिल जाता ? मैंने तो मुना है वह उसे मि है । उसकी बड़ी पहच है । श्यामा...”

सन्तोष व्यग्न से चीप उठी, “तुमने गन्त मुना है । श्यामा कुछ नहीं कर सकती । ठेका राजकिशोर को नहीं मिला...”

“तो किसको मिला ?”

सन्तोष के हाथ में एक लिफाफा था, उसीको उसने रोगन की घोर तंजी से फेंका, “यह देखो...”

“सन्तोष !”—स्तब्ध रोगन चील उठा । वह सब कुछ भूल गया । उसका सब सपर्य निमित्त-मात्र में धूल पुछ गया । उसने लपककर लिफाफा खोला...

सन्तोष घरारत से हूमी, बोली, “सरकारी पत्र कल तुम्हारे पास था जाएगा और परसों हम बेंगर में एक जानदार पार्टी देंगे । एक बहुत जानदार पार्टी...”

रोगन तब तक उस पत्र को पढ़ चुका था । उसने कापते हुए, चीखते हुए सन्तोष को बाहो में भर लिया और बार-बार कहने लगा, “सन्तोष, तुम कितनी अच्छी हो, कितनी बड़ी हो । ओह मैं तुम्हारे लिए क्या करू ? क्या करू...?”

सन्तोष बोली, “कुछ नहीं डानिग, मैं पिक्चर जा रही हूँ । मेरा इन्त-जार न करना । सो जाना ।”

भोगा हुआ यथार्थ

वृद्ध पारसनाथ बड़ी तेजी से हांफने लगे थे। उनका गौरवर्ण चेहरा बिल्कुल ढीला पड़ गया था। जैसे पिघल गया हो। लेकिन प्रयत्न उनका यही था कि वह पहले की तरह तने और कसे रहें। दरअसल यही प्रयत्न उनकी परेशानी का कारण था। हर वीतता क्षण उन्हें दुर्बल और दयनीय बना देता था। वह अभी एक प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र से लौटे थे। अरविन्द ने बहुत आग्रह के साथ उन्हें वहां भेजा था। एक सप्ताह वीतते न वीतते वह लौट आए। अरविन्द ने कहा, “क्यों, इतनी जल्दी कैसे लौट आए ?”

वह बोले, “इस उम्र में सेहत भी क्या ऐसी चीज है कि उसे इस तरह सजाया-संवारा जाए ?”

अरविन्द ने कहा, “लेकिन जब तक आदमी जीता है, उसे आत्मनिर्भर होकर जीना चाहिए।”

पारसनाथ ने कोई जवाब नहीं दिया। एक क्षण के लिए उनके चेहरे पर हल्की-सी मुसकान चमकी और फिर वह तकिये के नीचे दबी हुई पोटली को टटोलने लगे। उसके वाद जेब में पड़े हुए कागजों को सहेजा। फिर अरविन्द से बोले, “कमरे की सब खिड़कियां और दरवाजे बन्द कर दो। और तुम जाकर आराम करो।”

धरविन्द ने कहा, "क्या भाव मुझे से नहीं मिलना चाहेंगे ? विभा भी तो घा गई है।"

पारसनाथ ने उत्तर दिया, "मैं किमींग नहीं मिलना चाहता। वह हरामजादा मेरी दीलत का भूखा है। और विभा बड़ी बेककूफ साइकी है। वह उसके किमी काम में दखल नहीं दंगी। वह मेरी गारी दीलत का मुद्देस के द्वारा ही पाना चाहती है। शायद वह मुझमें डरती है क्योंकि मैंने उसे एक पागल युवक के जान में फंसेने में बचाया था।"

कहते-कहते बाबू पारसनाथ का स्वर बहुत थक गया। उन्होंने कई बार घपने हाथों की मुद्दिया कमीं छोड़ लीं। फिर एक दीर्घ निश्वास लबर उन्हें ढीला छोड़ दिया। उनकी साम का वेग कम नहीं हो रहा था। मुह से रान टपकने लगी थी। लेकिन वह बराबर छत्र की करियों का घूर रहे थे। धरविन्द ने दोनों हाथ पनप पर टिकाकर भागे मुन्ते हुए एक बार फिर पूछा, "लेकिन भाप कुछ सेना तो चाहेंगे—दवा, दूप या चाय ?"

बाबू पारसनाथ ने बहुत धीरे से कहा, "अब कुछ नहीं। तुम जाओ। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं घपनी गारी मम्पति का दृष्ट बना जाऊ। पर तुमने भी मेरी सहायता नहीं की। अब वह हरामजादा टमकीं भा जाएगा। वारा, मैं उसे रोक पाऊ, लेकिन वह बेबकूफ लखीं मान सब न ?"

वे मानो घपने में बौन रहे थे। बांयते-बांयते महला उन्होंने धरविन्द की ओर देखा और कहा, "जाओ, सोओ। गदरे तुमने कुछ बरगुं कने करनी है।"

धरविन्द ने धनुभव किया कि उसका बहा रूना टोक नहीं है। वह निरवय करने में उसे कई क्षण लग गए। वह उनका बौरे गिनना शुरू था। मात्र सामाजिक परिषय था। हा, या बाकी पुगना। उनी कुन्नेय का सहारा लेकर बाबू पारसनाथ अब कनी परेमान हूँ, देवते "नू वने छोडे।

अरविन्द ने नम्र दरवाजे और खिड़कियां बन्द कर दीं। कर चुका तो उसने एक बार फिर बाबू पारसनाथ की ओर देखा। महसा उसने अनुभव किया कि जैसे वह एक लाख के माथ ग्रंथेरे बन्द कमरे में अकेला रह गया है। उसे पहली बार ग्रंथेरे में डर लगा। और उसका डर व्यर्थ नहीं था। उस ग्रंथेरी रोगनी में उनका राल से भरा चेहरा बहुत विकृत था। यन्त्रवत् उनका हाथ उसके अपने चेहरे पर चला गया जो पसीने से तर था। उसका मन न जाने कैसा-कैसा हो आया। उसने तेजी से रुमाल निकालकर अपना पसीना पोंछा और बिना किसी ओर देखे बाहर निकला चला गया।

अब कमरे में घुप्य ग्रंथेरा था और बाबू पारसनाथ जिनके सांस की गति और भी तेज हो गई थी, आंखें फाड़-फाड़कर कुछ खोजने की कोशिश कर रहे थे। बहुत देर तक करने रहे फिर एकाएक उनके दिमाग में तूफानी हवाएं उठने लगीं। और फिर कमरे के दरवाजे और खिड़कियां जोर-जोर से खड़खड़ाने लगे। उन्होंने नीम-बेहोशी की हालत में कहा, “अरविन्द, क्या तुमने दरवाजे और खिड़कियां बन्द नहीं कीं?”

कहीं से कोई जवाब नहीं आया। वस ग्रंथेरा उसी तरह सर फोड़ता रहा। उन्होंने भी अपने सिर को कई बार ऊपर-नीचे पटकवा। और फिर आंखें बन्द करके बड़बड़ाए, “मुझे कुछ नहीं हुआ। मैं ठीक हूँ। मेरे रहते सुदेश मेरी सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकेगा।...”

तभी एकाएक जैसे कमरे का सबसे बड़ा दरवाजा खुल गया और घड़घड़ाती हुई डाकगाड़ी अन्दर चली आई। और दूसरी ओर से निकल गई। और उसमें से कूदकर एक अर्द्ध विक्षिप्त अघेड़ मूर्ति कमरे के बीचों-बीच आकर खड़ी हो गई। उसके कपड़े फटे हुए थे और बाल बिखरकर हवा में उड़ रहे थे। उसकी आंखों की घृणा राल की तरह चेहरे पर बहर रही थी। उसने भयानक डरावनी आवाज में कहा, “मेरी ओर देखो, पारस। मुझे पहचानते हो?”

पारसनाथ के हृदय की घडकन असंख्य तफानी भूकोरों की गति से

बढ़ गई थी। मूर्ती भावों से एकटक उस मूर्ति को देखते हुए उन्होंने पूछा,
"तुम बीन हो?"

एकाएक कमरा भयानक हमी से गूँज उठा। पंचकश की तरह छाती से धार-धार हो जाने वाली खोफनाक धावाज में उस प्रागन्तुक ने कहा,
"अजीब बात है, मेरी धावाज नहीं पहचानते? बचपन से ही मैं तुम्हारे साथ रहा हूँ। एक ही घर में खेलकूदकर हम बड़े हुए हैं। घरे, हम दोनों के मा-बाप तक एक थे। अपनी जवानी तक हम दोनों एक-दूसरे को कितना प्यार करते थे। क्यों पारस? अब पहचाना? मैं निरंजन हूँ। तेरा मां-जाया बड़ा भाई।"

एक क्षण वह धावाज रुकी, पर उसकी गूँज तो धीरे भी भ्रामदामक थी। पारसनाथ हृत्प्रभ-विमूढ़ शून्य में डूबे रहे। उस मूर्ति ने ही घुमड़ती हुई, पर कुछ धीमी धावाज में कहा, "हां, मैं निरंजन ही हूँ। मां-बाप के मर जाने के बाद जापदाद के बंटवारे को लेकर कैसा तूफान खड़ा हो गया था। आमदाद हमेशा तूफान ही पैदा करती है। है न? प्यार जता जता-कर तूने पहले मुझे आश्वस्त कर दिया कि मैं बीमार हूँ। फिर गलत दवा-इया खिला-बिलाकर मेरा दिमाग खराब कर दिया। उसके बाद किस-किससे न कहकर मुझे पागलखोर्ने भिजवा दिया। उस दिन तू कितना रोया था। हर तीसरे महीने तू मुझे देखने पागलखाने जाता था कि मैं कहीं निकल न भागूं। लेकिन वे कब तक मुझे रखते। तीन वर्ष बाद मैं वहां से बाहर आ गया। तब तक काफी भ्रवलभन्द हो गया था। चाहा था तुम-से दूर रहकर जिन्दगी को नया मोड़ दूं, लेकिन तूने मेरी शादी ही नहीं होने दी।"

बाबू पारसनाथ की सत्ता जैसे लौटी। उन्होंने सापरवाही से कहा,
"पागल की कोई शादी करता है!"

मूर्ति इस बार फिर खलकल हंसी, "हां, पागल की कोई शादी नहीं करता। उसे तो बस भ्रदासत में ही घसीटा जा सकता है। है न?"

जैसे मूर्ति का रोम-रोम घृणा से जकड़ गया हो। जैसे उसकी जड़ों

में बिजली दौड़ने लगी हो। उसने धीरे-धीरे एक-एक गन्ध को चिबल-चिबलकर कहा, “तूने मुझे एक लम्बे अर्से तक अदालत में घसीटा। मुझे नालायक साबित करने के लिए अपनी सारी प्रतिभा खर्च कर दी। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि मैं सचमुच पागल हो गया। लेकिन तू बहुत अच्छी तरह जानता है—पागल हो जाने पर भी मैंने तुझे अपने मकान में कदम नहीं रखने दिया था। उसकी छतें बैठ गई थीं, दीवारें गिर गई थीं, वह खंडहर हो गया था। लेकिन मैं प्रेत की तरह वहीं मंडराता रहा। अब तूने मेरी दुर्दशा पर ज़ार-ज़ार आंसू बहाए। मेरी देखरेख का ढोंग रचा। और, और...”

उसके स्वर में घृणा जैसे सैलाव की तेज़ी से उमड़ आई। अबभूखे खतरनाक हिंसक पशु की तरह उसने अपना वाक्य पूरा किया, “और अन्त में एक दिन तू मुझे ज़हर देने में सफल हो गया।”

बीच-बीच में पारसनाथ ने गुर्राने की कोशिश की, लेकिन उसी क्षण वह मूर्ति चीख उठती, “गुर्राने से कोई फायदा नहीं होगा। मैं तेरी असलियत ही तेरे सामने खोलकर रख रहा हूँ और यह भी सुन ले कि मैं चाहूँ तो तेरा गला घोट सकता हूँ। लेकिन तेरे जैसे लुच्चे को हाथ लगाना भी अपना अपमान करना है।”

पारसनाथ कई क्षण तक फिर तड़फड़ाते रहे। बड़ी कशमकश के बाद जाकर कहीं वे अपने को संयत कर सके। और उन्होंने धीरे-धीरे कहा, “मैं नहीं जानता तुम यहां कैसे आ गए! क्या तुम सचमुच जिन्दा हो? मैंने तो तुम्हें अपने हाथों से जलाया था। तुम ज़रूर प्रेत बनकर मेरी हत्या करने आए हो। लेकिन अब उससे क्या होता है? हत्या, आत्महत्या, मृत्यु सब एक ही हैं। लेकिन एक बात मैं भी तुमसे कहे देता हूँ, तुम अपनी सम्पत्ति मुझसे किसी भी प्रकार वापस नहीं ले सकते।”

इस बार वह कमरा एक उन्मुक्त किलकारी से गूँज उठा। उस मूर्ति ने खिलखिलाते हुए कहा, “मूर्ख पारस! तू मेरी सम्पत्ति का कभी भी मालिक नहीं रहा। आज भी नहीं है। कल भी नहीं होगा।”

पारसनाथ एकाएक चौख उठे, "तुम यहां से चले जाओ। नहीं तो मैं पुलिस को सूचना दे दूंगा।"

उस मूर्ति ने उसी उन्मुक्तता से कहा, "और तुमसे भ्रष्टा ही क्या की जा सकती है? लेकिन पारम, मुझे खेद है कि भव तेरी पुलिस मुझे छू भी नहीं सकेगी।"

बाबू पारसनाथ पूर्ववत् चीखे, "तुम इस कमरे से एक कदम भी बाहर नहीं रह सकते। मैं तुम्हें अभी जान से मार डालूंगा।"

"निश्चय ही मार डालोगे। लेकिन तुम्हारे पास इस बात का क्या सबूत है कि तुम जिसको मारोगे वह तुम होगे या मैं।"

पारसनाथ की बोवलाहट चरम सीमा पर पहुंच गई थी। उनको लगा जैसे उन मूर्ति के मिर पर सींग उग आए हैं और वे सींग किसी भी क्षण उनके वक्ष के धार-वार हो सकते हैं। वे पूरी शक्ति लगाकर चीखे, "मैं कहता हूँ यहां से चले जाओ! तुम यहां कैसे आए? किसने तुम्हें बताया कि मैं यहां हूँ?"

एकाएक कमरे में प्रकाश फिर चमक उठा। एक खिड़की खुली और उमंगे होकर एक पुरुष-मूर्ति अन्दर आ गई। वैसे ही जैसे हवा का तेज भोंका अन्दर घुस आता है। उस मूर्ति ने धीर-गम्भीर स्वर में कहा, "इन्हें मैंने बुनाया था।"

"तुम कौन हो?"

"मैं पारसनाथ हूँ।"

पलंग पर लेटे हुए पारसनाथ ने अविश्वाम से अपने को टटोला। तेजी से आखें खोली और बन्द कीं; फिर कहा, "पारसनाथ, कौन-सा पारसनाथ? मैं पारसनाथ हूँ।"

मूर्ति ने उत्तर दिया, "हां, तुम भी पारसनाथ हो सकते हो। लेकिन इनको बुलाने वाला पारसनाथ मैं हूँ। मैंने सचमुच इसके साथ बुरा बर्ताव किया। मैं अपने दोष की आत्म-स्वीकृति का दण्ड भोगना चाहता हूँ। मैं..."

३६ मेरी प्रिय कहानियां

पलंग पर लटे हुए पारसनाथ को बड़ी तेजी से गुस्सा आया और उन्होंने चाहा कि वह उठकर अपने को पारसनाथ कहने वाली उस मूर्ति को चूर-चूर कर दें। लेकिन उनका हर प्रयत्न नपुंसक व्यक्ति के प्रयत्न की तरह बेकार हो गया। उन्होंने पाया कि वह पसीने-पसीने होकर हांफ रहे हैं। जैसे उनकी श्वास किसी भी क्षण बन्द हो सकती है। कई क्षण तक वह अपने से संघर्ष करते रहे। फिर उन्होंने दृष्टि उठाकर उस मूर्ति की ओर देखा। वहां न कोई मूर्ति थी और न कोई आवाज। आसपास सब कुछ काठ-सा निम्नत्व था। जो कभी-कभी उनकी अपनी श्वास से चेतन हो आता था। जैसे कहीं उल्लू ने अपने पंख फड़फड़ाए हों या कुत्ता भौंक उठा हो। वह बुदबुदाए, "यह मैंने क्या देखा? यह सब मुझे क्यों याद आ गया? क्यों? नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं सोचना चाहता। सोचना बेकार है। मुझे सोना चाहिए।"

लेकिन वातावरण में कहीं कुछ बज रहा था। एक पुराने बेसुरे पियानो की तरह। उन्होंने हरबन्द सोने की कोशिश की। आंखें बन्द करके दोनों हाथ विस्तर पर फैला दिए लेकिन बेसुरे पियानो के स्वर और भी तेज हो उठे। बार-बार जैसे किसीने उन स्वरों को ठीक करने की चेष्टा की। लेकिन हर चेष्टा के बाद पियानो की आवाज और भी भयानक हो उठी। पर तभी न जाने क्या हुआ, एक चिरपरिचित नारी-स्वर पियानो की उस बेसुरी आवाज से ऊपर होकर उनके अन्तस् में गूँजने लगा। वह बहुत ही मधुर और प्यारा था। उसने फुसफुसाकर उनके कान में कहा, "मेरी आवाज को तो आप बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। जिन्दगी का बेहतर दिन हिस्सा मैंने आपके साथ बिताया है। आपने बार-बार मुझे अपने से अलग करने की कोशिश की लेकिन मुझे आपसे इतनी मोहब्बत थी कि मैं हर बार आपके पास लौट आई। आपको याद है न? एक बार हम दोनों तीर्थ-यात्रा पर गए थे। आपके बारे में प्रसिद्ध था कि आप दांत से पैसा पकड़ते हैं। लेकिन उस बार आपने मुझे एक के बाद एक कई तीर्थों की यात्रा कराई। उन दिनों आप मुझे कितना प्यार करने लगे थे। काश, वे दिन

धमर हो पाते !”

बाबू पारसनाथ एकाएक पागलों की तरह चीख उठे, “चुप हो जाओ। मैं तुम्हें बहुत अच्छी तरह पहचानता हूँ। मैं तुम्हारी भावाज नहीं सुनना चाहता।”

“भावाज से कोई नहीं बच सकता। ये भावाजें भाप की तरह होती हैं। धाड़मी के तन-मन में धार-धार हो जाती है। धीरे धीरे आपसे तो बातें करने का मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है। मैं आपकी विवाहिता हूँ। आप राबमुच मुझे प्यार करते थे। आपने मेरे जीवन का पचास हजार रुपये का बीमा कराया था। बाप रे, हर तीसरे महीने कितनी थड़ी किस्त देने थे आप ? मेरी सारी हमजोलिया मुझमें ईर्ष्या करती थी। कहती थीं—जिन्दा, तू कितनी भाग्यशालिनी है ? तेरे पति तुम्हें कितना चाहते हैं !”

बाबू पारसनाथ बोले, “हा, हा, मैं तुम्हें बहुत चाहता था, लेकिन तू इतनी डरावनी क्यों दिखाई दे रही है ? तेरी भावाज इतनी कर्कश क्यों है ?”

मृति हंसी, “वह आपका धर्म है। मैं तो बहुत मुन्दर हूँ। स्वर्ग की आपसराए मुझसे ईर्ष्या करती है। जब किसी नेता का तप मंग करना होता है तब इन्द्र मुझे ही धरती पर भेजते हैं। मेरे संगीत पर वे पागल हुए रहते हैं। आपको भी तो मैंने बहुत सारे गीत सुनाए थे। लेकिन जाने दो उन बातों को। मैं तो आपको उस दिन की बात याद दिलाने आई हूँ, जिस दिन आप मुझे हरिद्वार के मेले में छोड़ आए थे। धीरे धीरे पहुँचकर जार-जार रोए थे। गिसक-गिसककर कहा था, कि मैं गंगा की तेज धारा में बह गई हूँ। प्राणों को सकट में डालकर घातने मुझे बचाने की कोशिश की थी। पर लोगों ने आपको निवाना लिया। कई दिन बाद एक सही-गली भाग को आपने पहचाना कि वह मेरी थी। धीरे धीरे बड़े दर्द-भरे दिन से मेरा पानदार क्रियाकर्म किया। धीरे धीरे उतने ही दर्द से बीमा कम्पनी से पचास हजार रुपये यगूस करने का प्रयत्न करने लगे।”

पारसनाथ एकाएक चीख उठे, “यह सब झूठ है। तुम जानती हो मैंने

पैसा वसूल नहीं किया था।”

नारी-स्वर धीरे से धिक्कार-भरी हंसी हंसकर बोली, “इतने उन्नेजिन मत होइए। आपके चेहरे पर अब कोई रंग नहीं रहा है, जो बदलेगा। यह बहुत मासूम दिखाई दे रहा है। उतना मागूम कि विकृति की सीमा पर पहुंच गया है। आपको शायद याद होगा कि एक साल बाद मैं फिर अपने घर वापस पहुंच गई थी। मुझे देखकर उस समय आपके चेहरे का रंग जो उड़ा तो फिर कभी नहीं लौटा। आप चाहते थे कि मुझे पहचानने से इन्कार कर दें। लेकिन मेरी दो बच्चियां भी तो थीं। उन्होंने चीख-चीखकर घर सिर पर उठा लिया था। तब आपको भी रोना पड़ा था। और आप एका-एक बदल गए थे। आपने उस अवसर का पूरा लाभ उठाया। मेरे लौट आने की खुशी में दावत दी, जशन मनाया और फिर बड़े गर्व से बीमा कम्पनी को लिखा : सौभाग्य से मेरी पत्नी जीवित लौट आई है। मैं अपना दावा वापस लेता हूं।”

एक क्षण के लिए वह आवाज बन्द हो गई, लेकिन पूरा कमरा एक दबी-दबी हंसी से भरा रहा। चीर देने वाली व्यंग्य से पानी हंसी से। उन्होंने तिलमिलाकर अपने हाथों से अपने को ही भ्रंभोड़ देना चाहा कि तभी वह मूर्ति फिर बोल उठी, “उसके बाद पूरे बीस साल तक मैं आपके साथ रही और उन बीस सालों में एक दिन भी हमने उस बात का जिक्र नहीं किया। क्या इससे बड़ी पतिव्रता नारी आपको मिल सकती थी! लेकिन आपने फिर भी मुझे बार-बार अपने रास्ते से हटा देने की कोशिश की। न, न, इस तरह न देखिए। इसमें ज़रा भी तो भूठ नहीं है। हां, यह दूसरी बात है कि हर बार आपका प्रयत्न बेकार हो गया। तब तक बेकार होता रहा जब तक मैंने स्वयं खुद घुटन से परेशान होकर आत्महत्या न कर ली। मैं कुएं में गिर पड़ी थी और आपने रुपये देकर पुलिस का मुंह बन्द कर दिया था। लिखा दिया था कि पानी खींचते-खींचते मेरा पांव फिसल गया और मैं कुएं में गिर गई। जो गंगा में न डूब सकी वह कुएं में डूब गई।...”

पारसनाथ ने फिर तिलमिलाकर कहा, “ओह! यह सब क्या है? तुम

लोग कहा से और कैसे आ रहे हो ? मैंने तुम्हें किसीको नहीं बुलाया ।”

कमरे में जैसे फिर हवा का नेत्र भोंका घुम आया । खिड़की खुली और एक धमक उस कमरे के कोने-कोने में बसना हो गई और उसीके साथ जैसे एक मूर्ति उभर उठी । उसने कहा, “इन्हे मैंने बुलाया था ।”

“तुम कौन हो ?”

“मैं पारसनाथ हूँ ।”

पलंग पर लेटे-लेटे पारसनाथ ने तेजी से आँखें मोलीं और वन्द की । और कहा, “पारसनाथ, पारसनाथ, कौन-सा पारसनाथ ? आखिर कितने पारसनाथ हैं ? नहीं, नहीं पारसनाथ केवल मैं हूँ ।”

प्रकाश-मूर्ति गहन-गम्भीर स्वर में बोली, “तुम पारसनाथ हो ? नहीं, तुम तो उसका विकृत शरीर-मात्र हो । वास्तविक पारसनाथ मैं ही हूँ । मैंने ही इनको मिलने के लिए बुलाया है । मैं इनसे सबके सामने क्षमा मागना चाहता हूँ...चाहता हूँ...।”

पलंग पर लेटे पारसनाथ को बड़ी तेजी से गुस्सा आया । चाहा कि उठकर अपने-आपको पारसनाथ कहने वाली उस मूर्ति को चूर-चूरकर डाले । लेकिन उन्हें लगा जैसे किसीने बहुत पास आकर उनके सीने को दबा दिया है । उसी स्थान पर दबा दिया है, जहाँ एक बहुत बड़ा फोड़ा था । दबाने से वह फोड़ा फूट गया और फोड़े की सारी गन्दगी बह-बहकर उनके सारे शरीर पर फैल गई । उन्हें बार-बार उबकाई आने लगी । वह धब न बोलने के लिए मुह खोल सकते थे और न देखने के लिए आँखें । वह छटपटाकर धरविन्द को पुकारने के लिए उद्दिग्ध हो उठे । लेकिन उनकी आवाज नहीं निकली । निकली एक डरावनी चीख । और उसके बाद सब शान्त हो गया ।

कई क्षण बाद उनकी सास लौटी । विन्दगी तब कौसी भयानक लग रही थी, ठहरे सड़े पानी की तरह । चारों ओर निपट अन्धकार था । एकाएक कहीं दूर उल्लू पक्ष फड़फड़ा उठना या कुत्ता रोने लगना । उन्होंने ध्मप्र होकर अपने से कहा, “मह सब मेरे दिमाग का फितूर है । घाज मैं

४० मेरी प्रिय कहानियां

ये पुरानी-पुरानी बातें क्यों याद कर रहा हूँ ? क्यों ये सब सनीचर की तरह मेरे सोने पर चढ़े आ रहे हैं । और उन सबको बुला लाने वाला मैं स्वयं ही कौन-सा 'मैं' हूँ । नहीं, अब मैं पिछली बातें नहीं सोचूंगा । सोचना भविष्य के लिए लाभदायक होता है । मेरा कोई भविष्य नहीं । मैं क्यों सोचूँ ? मैं अब सोऊंगा ।”

जैसे ही उन्होंने सोने की चेष्टा की, अनुभव किया कि कोई उन्हें बड़े स्नेह से पुकार रहा है । ...“पिताजी...”, “पिताजी...”

“न, न आप कांप क्यों उठे ? मैं हूँ शुभा । आपकी बड़ी बेटी, जिसे आपने धार्मिक शिक्षा देने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी, जो परम सुन्दरी थी और जिसके बारे में आप सोचा करते थे कि आप उसका विवाह किसी करोड़पति सेठ से करेंगे ।”

इस बार पारसनाथ जरा भी नहीं घबराए । मानो उनका विश्वास लौट आया हो । वह बोले, “तो इस बार तू आई है । निर्लज्जा, मैंने तुम्हें कितना प्यार किया था, लेकिन तूने मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया । मैं तुम्हें करोड़पति के घर में देना चाहता था । और तू उस दो कौड़ी के प्राध्यापक से प्यार करने लगी, जिसे मैंने तुम्हें हिन्दी प्रभाकर पढ़ाने के लिए रखा था । मेरे प्यार ने तुम्हें विगाड़ दिया था और तू मुझसे यह कहने का साहस कर सकी थी—मैं मकरन्द से प्यार करती हूँ, उसीसे विवाह करूंगी ।”

शुभा की मूर्ति ने बहुत कोमल स्वर में उत्तर दिया, “मेरे प्यारे पिता जी ! आपको तो सब कुछ याद है । वह साहस मुझे उसी धार्मिक शिक्षा से प्राप्त हुआ था जिसकी सुविधा आपने मेरे लिए की थी । मैं सच-मुच मकरन्द से प्यार करती थी । मैंने उससे प्रतिज्ञा की थी कि विवाह करूंगी तो उसीसे करूंगी । लेकिन आपने मेरी एक बात नहीं सुनी । आपने मुझे काल-कोठरी में बन्द कर दिया । आपने मुझे विवश कर दिया कि मैं मकरन्द को मिलने के लिए बुलाऊँ । वह इस पड़्यन्त्र को न समझ सका । बेचारा, प्रेम में पागल जो था । वह मुझसे मिलने आया लेकिन मेरे स्थान

पर उसे मिले घाव । आपने उंगे पीटा, बुरी तरह पीटा । लेकिन क्या आप जानते थे पिताजी, कि ठगपर पडने वाली हूर चोट मेरे ऊपर पड़ रही थी । मैं और वह दोनों एक हो चुके थे । उसकी चेतना मेरे अन्दर में घड़क रही थी । मैंने स्वयं उससे कहा था कि शायद जब मैं तुम्हारे बच्चे की मा बनूगी तब पिताजी पिपल जाएंगे । लेकिन आप नहीं विधले । आपका भ्रहं प्रतिहिता का भयानक रूप लेकर मुझे कुचलने को तैयार हो गया । आपने मकरन्द को धार-धारकर गहर से चले जाने को विवश कर दिया । और फिर मेरी धोर मुठे । आपकी धासों से टपकती हुई वह घूणा मैं आज भी अपने अन्दर में महसूस कर रही हू । कितनी निदेयता से आपने मुझे पीटा था । लेकिन मैं तो घटान बन चुकी थी । घट्टान न रोती है, न परपासाप करती है । उससे टकराने वाला टूट जाता है । आप भी टूट गए थे इसीलिए तो आपने मुझे जहर देने का निरघय किया था ।”

एक धान के लिए वह मुठि खुप हो गई । कमरे में फिर मनहम सत्राटा गूब उठा । पारसनाथ ने उस पीटा से ध्यपित होकर इतना ही कहा, “मैने जो किया, वह ठीक ही किया । दुराचारियों को सिन्दा गाड़ दिया जाता है या गोदें की गर्म-गर्म सनासों से दागा जाता है ।”

मुठि ने उसी तरह मुरकराते हुए जबाब दिया, “मुझे सब मालूम है । आपका दश गर्म सोदें के सनासों के दग्ने से भी भयानक था । आपने रिपमने का नाटक किया था । आपने मुझे घूमने-फिरने की धावाडी दे दी थी । आप मुझसे बड़ा धार जताने लगे थे । और एक दिन आपने बड़े धार से मुझे बसं शमकर रूप धोर धाम का रस पिताया था । उसीमे तो उहर था । क्यों, क्या मैं कुछ दमन कह रही हूँ ? उसी रात को मुप करने एक-दो राखसार दिनों तपा गहर के एक बहुत बड़े एडवोरेट के साथ, जो देश के एक बड़े राखनीतिक दल के नेता भी थे, मेरे निर्वीत्र शरीर को बहू दूर दला के बिजारे धमि के मुठुं कर धाए थे । पतिन-पावनी गंगा के बिजारे ही-र बिजरो पट्टानता है । दूर-दूर से बहा सोप सब-दाह के रिपु धाते है । धार भी रैले ही का और मुझे पवित्र धमि को सोरकर

चले आए।...ऐसा ही हुआ था न ? न, न, इस तरह तड़फड़ाइए नहीं। मैं यह सब नहीं देख सकूंगी। मैं तो आपसे सिर्फ मिलने के लिए चली आई थी। आपकी शक्ल देखकर तो ऐसा लग रहा है जैसे हड़प्पा सभ्यता के खंडहरों में से आकर कोई क्षत-विक्षत शव यहां लेट गया हो। नहीं, नहीं, मैं यह सब नहीं सह सकती। मैं ..”

पारसनाथ ने एकाएक चीखकर कहा, “तुम यहां से चली जाओ। नहीं तो मुझे तुम्हें फिर से जहर देना होगा। न जाने अरविन्द ने दरवाजे और खिड़कियां कैसे बन्द किए हैं कि जिसके जी में आता है, मुंह उठाए चला आता है। मैं कहता हूं तुम्हें मेरे एकान्त में खलल डालने का क्या अधिकार है ? तुम्हें किसने यहां आने दिया ?”

कमरे में एक वार फिर जैसे ताजी हवा भर गई हो। खिड़की खुली और एक वायवी पुरुष-मूर्ति अन्दर चली आई। बोली, ‘इन्हें मैंने ही यहां आने की दावत दी थी।’

“तुम कौन हो ?”

“मैं पारसनाथ हूं।”

पलंग पर लेटे पारसनाथ ने पागलों की तरह आंखें खोलीं, बन्द कीं और कहा, “पारसनाथ, पारसनाथ ! गोया कि दुनिया का हर व्यक्ति पारसनाथ है। यह सब भूठ है। पारसनाथ एक ही हो सकता है और वह मैं ही हूं।”

वायवी मूर्ति ने मुसकराकर उत्तर दिया, “तुम पारसनाथ हो ? सच ? तुम्हें यह गलतफहमी कैसे हुई ? मेरे प्यारे दोस्त ! तुम तो पारसनाथ का सांचा-मात्र हो। जो चेतन है, वह पारसनाथ मैं हूं। मैं अपनी इस प्यारी मासूम बच्ची से सचमुच माफी चाहता हूं। मैं इसे बहुत प्यार करता हूं। मैं इसे अब कहीं नहीं जाने दूंगा।”

और पलंग पर लेटे पारसनाथ का चेहरा बुझ गया। उन्हें लगा जैसे शुभा धीरे-धीरे उनके पास आई और उनकी आंखों की पुतलियों को खींचकर बाहर निकालने लगी। उस समय उसके मुख पर ऐसी तृप्ति थी, जैसी

केवल धीरे-धीरे के चेहरे पर ही हो सकती है। उन्होंने डरकर अपने दोनों हाथों से अपनी दोनों आँखों को ढक लिया। शुभा का घुघुला आकार मुमकराता हुआ अन्धकार के भुरभुर में गयी गया। लेकिन वह आवाज देर तक उनकी छाती में ठक-ठक करती रही। उनकी धौंकनी बड़ी तेजी से चलने लगी। उन्होंने अनुभव किया कि जैसे उनका अन्त आ गया है। लेकिन वह अन्तरे में अब तक अच्छी तरह परिवर्तित हो चुके थे और वह उसके भीतर सब कुछ देख सकते थे। उन्होंने पाया कि उनके सामने एक युवक था जो बड़ा हुआ है। वह एकाएक कुछ नहीं बोला। पहले कुछ अस्पष्ट-सी ध्वनियाँ निकलती रहीं, फिर आप ही आप ठहाका मारकर हस पड़ा। जब काफी हस चुका तो उसने कहा, "क्यों बाबू पारसनाथजी, आप मुझे पहचानते हैं? नहीं पहचानते? ताज्जुब है।"

और फिर ठहाका मारकर हस पड़ा और बोला "अजी साहब, आपने मुझपर मुकदमा चलाया था। मैंने मुकदमा चलाना आपका पेशा रखा है। बात में से बात पैदा करके आप मुकदमा चलाने के लिए मशहूर रहे हैं। जिन्दगी-भर आप ब्लैकमेल करते रहे हैं। अच्छा अब भी आपको याद नहीं आता तो मुझे, मैं सारी कहानी सुनाता हूँ। एक दिन मैंने आपसे कहा था—'मुझे रगमच बनाने के लिए जमीन की आवश्यकता है। क्या आप मुझे अपनी जमीन किराये पर दे सकेंगे?' तब आपने कुछ भी उत्तर नहीं दिया था। न हाँ, न ना। केवल मुनकराकर रह गए थे। आपके उस मामूली गौरे चेहरे पर वह मुमकराहट बड़ी प्यारी लगी थी। मुझे याद है कि आपने मुझे कुल्हड़ में चाय भी पिलाई थी। मिट्टी की वह सोधी-मोची गन्ध मैं कभी नहीं भूल सकता। उसके बाद आपसे मेरी कोई बात नहीं हुई। मैंने अपना मच बनाने के लिए दूसरी जमीन किराये पर ले ली। लेकिन एक दिन गया देखता हूँ कि अदालत से मेरे नाम समन आया है। मैंने आपकी जमीन का किराया नहीं चुकाया था। कौन-सी जमीन का? आपने मुझे कोई जमीन नहीं दी थी। लेकिन यह सब बनाने के लिए आप पेशियों पर पेशियाँ इन्वयाने रहे। मुझे सताने रहे। मुझे बकूल करना पड़ा। उसे पैसे देने पड़े।

मैं तभी जान सका कि शून्य किनारा शनितगानी होना है। आठ-दस पेशियाँ पड़ने के बाद सहसा एक दिन भरी अदालत में आपने मुझसे कहा था, 'तुम धर्म से कह दो कि तुमने जमीन नहीं ली, मैं मुकदमा वापस ले लूंगा।'

"मैं एकाएक उर तो गया था, लेकिन सच कहने से मैं जरा भी नहीं भिन्नका। छाती तानकर बोला था, 'मैं हजार बार कहता हूँ कि मैंने जमीन नहीं ली।'

"तब आपने कहा, "अच्छी बात है, मैंने अपना मुकदमा वापस लिया।"

पासरनाथ ने कसमसाकर कहा, "क्या मैंने मुकदमा वापस नहीं लिया?"

"लिया, यह बात सही है। लेकिन मुझे अपने ऊपर दया आती है कि मैंने झूठा मुकदमा चलाने के अभियोग में आप पर मुकदमा क्यों नहीं वायर किया। क्योंकि वकीलों ने मुझे सलाह दी थी कि पुलिसकी तरह वाबू पारसनाथ से भी तुम नहीं जीत सकते। अच्छा यही है कि तुम चुप हो जाओ। और मैं चुप हो गया था। लेकिन आज मैं आपको यही बताने आया हूँ कि मैं सचमुच चुप नहीं हुआ था। हो ही नहीं सकता था। न, ने, आखें मत मलो। आपको नींद नहीं आ रही है। आपको नींद नहीं आ सकती। आप आत्म-हत्या भी नहीं कर सकते। इसलिए इस तरह तड़-फड़ाओ मत।"

एकाएक न जाने क्या हुआ, वाबू पारसनाथ उठ बैठे और चीखकर बोले, "चुप हो जाओ। कोई बात है कि हर कोई मन चाहे गुणों और आदर्शों को मुझमें आरोपित करके, मुझे दोषी ठराहने लगता है। नहीं, नहीं, तुम मुझे आतंकित नहीं कर सकते। मैंने जो चाहा किया और जो चाहूंगा करूंगा। तुम यहाँ से भाग जाओ। मैंने तुम्हें नहीं बुलाया।..."

"लेकिन मैंने बुलाया था," यह कहते हुए एक मूर्ति ऐसे आवेग से अन्दर आ गई जैसे सैलाव का पानी सब कुत्र समेटता हुआ चला आता है।

पारसनाथ ने पूछा, "तुम कौन हो ?"

"मैं पारसनाथ हूँ। क्या तुम्हें कोई प्राप्ति है ?"

पलंग पर लेटे पारसनाथ ने तेज होकर कहा, "पारसनाथ मैं हूँ, तुम सब छलावे हो।"

वह मूर्ति हंसी, बोली, "हर पागल अपने को बुद्धिमान और शेष दुनिया को पागल समझता है। छलावा तुम हो, गत्य मैं हूँ।"

पारसनाथ ने चाहा कि वह मूर्ति का गला घोट दे लेकिन उन्हें लगा जैसे उनका अपना ही दम घूट रहा है। उन्होंने चाहा कि कमरे के दरवाजे और खिड़कियाँ खोल दे लेकिन देखते क्या हैं कि हर दरवाजे और खिड़की पर एक-एक व्यक्ति खड़ा है। और वे सब उनकी ओर देख रहे हैं। और कमरा घसटाय डरावनी आवाजों से गूजने लगा है। उन्होंने आँखें फाड़-फाड़कर देखा, और लगाकर बोले, "तुम सब कौन हो ?"

एक व्यक्ति हसकर बोला, "जनाब, अभी तो बताया था कि मैं पारसनाथ हूँ।"

"पारसनाथ ? कौन पारसनाथ ? पारसनाथ केवल मैं हूँ।"

वह मूर्ति एकाएक उनके पास आकर बोली, "हाँ, हाँ, तुम पारसनाथ का प्रेत-मात्र हो।"

पलंग पर लेटे पारसनाथ ने अपने दोनों कानों को जोर से दबाने हुए चीलकर कहा, "तुम सब चले जाओ, यहाँ से चले जाओ।"

एक मूर्ति बोली, "मैं यहाँ से कैसे जा सकता हूँ ? तुम मुझसे लटकर ही प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र से लौट आए हो। मैं तुम्हें वापस वहीं ले जाऊँगा।"

पारसनाथ जैसे करणों से भरकर धिपियाए, "नहीं, नहीं, मैं वहाँ नहीं जा सकता। मैं सब कहता हूँ। मैं मरना चाहता हूँ।"

दूसरी मूर्ति आगे बढ़ी, "लेकिन मैं नहीं चाहता। मुझे जिन्दा रहना है। मुझे अभी और दोलत इकट्ठी करनी है।"

तीसरी मूर्ति ने कहा, "मैं नहीं चाहता कि मैं यहाँ से कहीं जाऊँ। तुमदेस

मेरी दीलत का भूखा है। वह उसे चाट जाएगा।”

चीथा पारसनाथ बोला, “नहीं, नहीं, मैं घर जाऊंगा। कितने मुक-दम चल रहे हैं। मैं नहीं जाऊंगा तो वे सब लोग मेरी सम्पत्ति लूट लेंगे।”

आवाजे एक-दूसरे को काटने लगीं। इतनी तेजी से काटने लगीं कि उनकी पहचान गम्य हो गई। किसीको किसीके अस्तित्व का ग्रहसास न रहा। और वह आगिरी पारसनाथ तो बिल्कुल नंगा था। खाल उतरी पसलियाँ, खोलली आँखें, खुला मुँह और सूखी टहनियों-से हाथ-पैर...

पलंग पर लेटे पारसनाथ का चेहरा अत्यन्त दयनीय हो उठा। उन्होंने पूरी निहत् से महसूस किया कि आत्माएं उनके इर्द-गिर्द मंडरा रही हैं। उनका दम घुट रहा है। अरविंद को दरवाजे और खिड़कियाँ खोल देनी चाहिए।

उन्होंने एक बार फिर जोर से चीखना चाहा, लेकिन वह जोर ऐसा नहीं था जैसे मुक्ति के लिए छटपटाती हुई किसी बेवस आत्मा का। उन्होंने अनुभव किया कि जैसे उनके अन्दर बहुत ही ज्यादा भय भर गया है। और शरीर चरम बिन्दु पर आकर टूट गया है। वह अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे थे। एक घबराहट-सी हो उठी और फिर वह लम्बी-लम्बी साँसें लेते हुए निढाल होकर एक ओर को लुढ़क गए।

सवेरे जब विभा और सुदेश के साथ अरविंद ने वहाँ प्रवेश किया तो पाया कि पोटली और सब कागजों को कसकर छाती से चिपकाए पारसनाथ कमरे के बीचोंबीच लेटे हुए हैं। घबराकर वे तीनों उनके ऊपर झुक आए। बिना उनके चेहरे की ओर देखे सुदेश ने सबसे पहले पोटली और कागजों को उठाकर विभा को दे दिया और कहा, “इन्हें रखो। मैं अभी डाक्टर को बुलाकर लाता हूँ। वह बेहोश हो गए हैं।”

विभा अपनी अन्तर की हूक को बड़ी कठिनाई से रोक रही थी कि उसी क्षण अरविंद ने कहा, “अब कहीं जाने की जरूरत नहीं है। वाबूजी शान्त हो चुके हैं।”

सचमुच बाबू पारमनाथ शान्त हो चुके थे। युगों जितने लम्बे एक क्षण तक वह उन्हें देखते रहे। और फिर अरविन्द ने विभा के कन्धे को थपथपाकर कहा, “तुम्हारे पिताजी ने बहुत शानदार मौत पाई है। किसीको कष्ट नहीं दिया। सेवा तक नहीं कराई।”

मुद्देश ने भी अपने स्वर को यथाशक्ति करुण बनाते हुए कहा, “सचमुच बाबूजी सब कुछ जान गए थे। इसीलिए तो वह चिकित्सा-केन्द्र में लौट आए। हर व्यक्ति अपने अन्तिम समय में अपनी के बीच ही रहना चाहता है।”

“और अन्तिम इवास तक उन्होंने अपनी चेतना नहीं खोई। मृत्यु को समीप जानकर अपने ही आप धरती की गोद में लेट गए।”

उसके बाद उन्होंने बाबू पारमनाथ को सिर से पैर तक एक सफेद चादर से ढक दिया। ढक चुके तो दूसरे प्रबन्ध करने के लिए बाहर चले गए। अकेली विभा उनकी लाश के पास बैठकर रोने लगी।

और धीरे-धीरे वह कमरा शोकानुल व्यक्तियों से भरने लगा। सवेदना प्रकट करने के साथ-साथ सब बड़े गर्व से यह प्रवचन कह देते थे, “भगवान ऐसी शानदार मौत सबको दे।”

वेमाता

उजनी ने लिहाफ परे हटाकर जोर से कहा, “अब तो सर्दी गई समझो, लिहाफ में दम घुटे है !”

विंदरावन ने मुन लिया। फिर लिहाफ में से ही एक बार मुंह उधाड़कर उसे देखा और आंखें मींच लीं। लेकिन दो क्षण बीत जाने पर भी जब न रहा गया तो बोले, “तेरा दम तो पुरवैया में भी घुटे है। भला कोई बात है। चुपचाप सो जा।”

कोई उत्तर नहीं मिला। पर ऐसा लगा, जैसे दूर कहीं कोई रह-रहकर सुवक उठता है। उसने कई बार करवट बदली, पर आवाज बन्द न होकर और भी तेज होती चली गई। उसीके साथ तेज होती गई उसकी बेचनी। आखिर उसने चीखकर कहा, “रांड न सोती है न सोने देती है। अभी तो मैं जिन्दा हूँ, जिन्दे को ही क्यों रोवे है ?”

फिर कोई नहीं बोला, पर दो क्षण बाद सुवकियां जैसे थम गईं, लेकिन तड़पन तो नहीं थमी। उठकर बैठ गई। बोली, “मैं तुम्हें क्या कहूँ। जी भर आए तो क्या कहूँ। मैं तो खुद चाहूँ कि दम घुट जाए तो पीछा छूटे, पर तुम तो सब बातें अपने ऊपर ले जाओ हो।”

“अच्छा-अच्छा, सो जा।”

उसने फिर करवट बदली, पर इस बार आंख बंद नहीं हुई। बहुत
मे-वि-३

शोगिता की, पर हर बार एक न एक मुरत भांसो के सामने घा लही होती। एक बार तो ऐसे लगा जैसे वह उठकर उन मुरतो को पीट देगा या फिर छपना ही सिर पीट लेगा। लेकिन किया उसने इनना ही कि करवट उघर बदन ली, जिघर उजली की साट सी। दो-तीन बार भांसों सोती घोर भीची। बहुत कुछ पुराना इतनी ही-नो देर में भासों के भागे से गुजर गया।

लिहाफ के अन्दर भी अमकार था, बाहर भी चुप अंधेरा था। अघेरे में घादमी की दृष्टि बहुत तेज हो जाती है। इसलिए बिदरावन ने अघ बहुत धीरे-धीरे कहा, "इसमें किसीका दोष क्या है। जमाना ही ऐसा है, जो जिनके जी में घाए करे, तुम्हें क्या। हमने तो अघना काम कर लिया। कोई बहेगा तो नहीं कि यादु बिदरावन ने कोई कोताई की है। घोर गुन, हम क्या किसीके आस्तोक हैं। अभी हहहों में दम है, कोई हुमा है इस खान-दान में जिसने बेटो को इनना पढ़ाया है। घोर तुम्हें तो बावली, खुदा होना चाहिए कि बड़ा बेटा बाबू है घोर बहू मास्टरनी। रहा छोटा, सो ठंकेदारो में वारे के न्यारे करे है। मोटरकार ले रखी है। कोई है ऐसा तेरे रिस्ते-नाते में?"

उजली के जी में आया कि दे मारे तड़ाक से जवाब कि मेरी ही कोल के जाए तो है। पर कुछ न कह सकी क्योंकि उघर से तुरन्त जवाब मिलता कि मेरी कोल के जाए है तो क्यों रोए है। इसीलिए उसने चुप रह जाना ही ठीक समझा। लेकिन मन भी क्या चुप रहता है? उसे अघने बेटो पर गर्व है। वे उसीके तो हैं। जब पास-पड़ोस में लडाई होती है, तो घोरतें आवेन में आकर यहां तक कह देती हैं, "जा-जा, हमें पता है कहां से लाई है तू भीनाद को। तेरा मिया क्या खाकर पैदा करेगा ऐसे बेटे।"

"हुरामजादी छिनाल, जो तेरा मिया खाकर करता है, वही खाकर मेरे मिया ने किया। तू यारों के पास जाती फिर है क्या? भुम्हें अरुत नहीं।"

"बड़ी भाई सतबंती, बदमाश रांड, सी-सी चूहे धा के बियाारी बली

५० मेरी प्रिय कहानियाँ

हज को। छिनाल दो को लेकर इतरावे है। मेरे तो ...
“तो तू सात के पास गई होगी, रंटी।”

आए दिन होने वाले इस वाक्-युद्ध का न कोई आरम्भ था न कोई अंत। और मजा यह था कि उस दिन यह सब कहने वाली उसकी अपनी समधिनी थी। उजली की एक मात्र बेटे का विवाह उसके पांचवें बेटे से हुआ था, जो अब वावू होकर रामकृष्णपुरम् में जा बसा था। उसका अपना बड़ा बेटा तो उससे भी बड़ा वावू था। ग्रेगुएट जो था। उस दिन उसने सारी विरादरी में लड्डू वांटे थे। जात के वे कुम्हार जरूर थे, पर उसके समुर तक ने कभी वर्तन नहीं बनाए। उसके मालिक को तो खिलौने बनाना भी अच्छा नहीं लगा। मकान बनाने के ठेके ही वह लेता रहा। खिलौने बनाती थी वस उजली। लेकिन उसने ठेके में जब खूब पैसे कमा लिए तो एक दिन उसने उजली का यह काम भी बन्द करवा दिया और उसे सर से पैर तक सोने में मढ़ दिया। इस ढलती उम्र में भी वह उन्हें एक क्षण के लिए नहीं उतारती...

सहसा उजली का हाथ गले के हार पर चला गया और उसीके साथ दिमाग में उभर आईं डेर सारी स्मृतियाँ। घुप अंवेरे में पुराने दृश्य बड़े उजले ही उठते हैं। उस दिन विदरावन बड़े बेटे के रिश्ते की बात करके आए, तो उजली ने सहज भाव से पूछ लिया, “सगे ने जहेज के लिए क्या कहा है?”

“बस, रांड को पड़ गई जहेज की। बावली, मैं उससे जहेज की बात कहता?” विदरावन ने गर्व से सिगरेट का लंबा कश खींच के उसे देखा, “मैंने तो कह दिया कि बेटे को बी० ए० पास कराया है और रही तेरी बेटे, तो उसे सोने से मढ़ दूंगा। अब भक मारकर देगा। नाक की फिकर तो बावली, सभीको ही है!”

फिर एक मिनट जवाब की राह देखी। जब उजली ने कुछ नहीं कहा, तो बोले, ‘और सुन, न कुछ दें, बेटे उनकी बारवीं में पढ़े है। वो क्या कहें

हैं, ट्रेनिंग करेगी और स्कूल में पढ़ाएगी। हो, जरा रग साँवला है, पर नाक-नकाश सब ठीक हैं। अच्छी नम्बी है और चदमा लगावे है ?”

यह सुनकर उजली खील उठी, “हाय राम, चदमा लगावे है ?”

“भव पढ़ी-लिखी है तो चदमा लगावेगी ही। वैसे उसके चेहरे पर लगे झन्डा है।”

“पर...!”

“रहने दे राइ, यह पर-पर। कह दिया कि अच्छी लगे है...”

“मैं कहूँ हूँ, यह राइ-राइ कहना छोड़ दो भव, समझे। बेटो के सामने तो कहा, भव बहुमो के सामने कहोगे तो क्या लाज रहेगी ?”

बिंदरावन एकाएक ‘ही-हो’ कर हसे। बोले, “तेरी या मेरी।”

“तेरी या मेरी क्या दो हैं। मेरी गर्द सो तुम्हारी गर्द गे।”

“भव तुगर्द की जात को क्या कहूँ। जिसके पास पैसे हैं। उसकी लाज को कोई खतरा नहीं।”

फिर एक क्षण रुके और गर्ब से उजली की ओर देखकर पूछा, ‘क्यों, मैं गन्त कहूँ क्या ?’

“तुम क्या कभी कुछ गलत कहो हो ? पर सुन लो, बहूँ के घाने पर पीने-खीने की बात मत करना।”

“फिर वही बात। मैं कहूँ हूँ राइ, दो मिनट कभी तो चुप होकर बात सुन लिया कर। जब देखो उपदेश देने लगे है। पीनेवाले देखे हैं तूने ! गर्बों-वालों की तरह कभी मैंने पी है ? बोल, तू ही तो पिलावे है। दो से तीसरा कटोरा दिया है कभी। भव तो कई-कई दिन हो जाएँ हैं।”

“बस भव विलकुल बंद।”

कहकर उजली मुस्कराई। बिंदरावन हसे, “हँ-हँ, मर्जी नम्बरदार की।”

“बस खुशामद करनी कोई तुमसे सीखे।”

“देख नम्बरदार, कभी तेरी बात उलाखी है। बोल, उलाखी है कभी ?”

५२ मेरी प्रिय कहानियां

विदरावन बहुत मुग्न होने तो उजली को नम्वरदार कहकर बुलाते । और यह भी सच है कि जब से उजली ने उनका अधिकार संभाला, तब से उसने उन्हें कभी बाहर नहीं पीने दिया । उजली को ये सचमुच प्यार करते थे । वह भागवान जो थी । उसने दो लायक बेटे दिए और उसका पैर ऐसे पड़ा कि लक्ष्मी माता साथ-साथ चली आईं । उसका मां-बाप का दिया नाम तो प्रसन्नी या प्रसन्दी था । रंग खूब चिट्ठा था, आखें बड़ी-बड़ी सलोनी । सो एक दिन बड़े गौर से देखकर उन्होंने कहा, “आज से तेरा नाम उजली रख दिया...”

दुखती रग पर जैसे किसीने फाहा रग्न दिया हो । उसने करबट बदल ली । पर रात के खतम होने के तो अभी कोई आसार नहीं थे । इसलिए घटनाओं का एक और जमघट उसके दिमाग में घुस आया । उस दिन जब बड़े बेटे जगदीश ने हायर सेकेण्डरी का सर्टिफिकेट लाकर दिया, और विदरावन ने जोर-जोर से पढ़ा, ‘जगदीशचन्द्र वर्मा सुपुत्र श्री वृन्दावन वर्मा,’ तो अन्दर ही अन्दर मन कुलाचे मारने लगा । बार-बार उजली से कहते, “देख, यह लिखा है, जगदीशचन्द्र वर्मा सुपुत्र श्री वृन्दावन वर्मा । विदरावन लिखा है, उजली नहीं । बड़ी डींग मारे है कि मेरे बेटे हैं ।”

उजली ने तड़ाक से जवाब दिया, “लिखने से क्या सचाई छुपे है ! बापों को डर लगे है, तभी तो जगें-जगें नाम लिखाते फिरें हैं ।”

पैरों के नीचे से जमीन खिसक गई । हाय राम यह अनपढ़ उजली ऐसा जवाब दे सकती है । ऐसा तीखा जवाब ! जहां गुदगुदी हो रही थी, वहीं आग लग गई । एक क्षण में अंधे हो गए । चीखकर बोले, “तो बद-मास रांड, इसका मतलब है तू यारों के पीछे-पीछे भागी फिर है !”

उजली ने तीखी नज़र से उन्हें देखा । जी में आया फेंक मारे ऐसी ही दो-चार गालियां । लेकिन क्या जानकर चुप हो गई । बस आंखों में अंगारे भरे इतना ही कहा, “मत मुंह खुलवाओ खुशी के दिन । हां, कहूं...हूं...!”

एकाएक वे खिसिया गए । नज़र मिलाने तक का साहस नहीं हुआ । चुपचाप उठकर खिसकने में सलामती समझी । बहुत देर बाद लौटे, तो

धैला लड़कियों से भरा हुआ था। कहने लगे, “पण्डित जी मिल गए थे, बोले, यह बहुत बली है, जगदीश को नौकरी मिल जाएगी।”

उजली ने धैला ले लिया। बोली, “पर वह तो भागे पड़ेगा। बी० ए० तक न !”

“हां-हां, वह तो पड़ेगा ही। मैं कब मना करूं हूँ और मेरा बेटा बी० ए० ही क्यों, एम० भी पास करेगा।”

मचमुच जगदीश बी० ए० करने के बाद ही नौकर हुआ। जिस दिन पोस्टमैन ने नौकरी की चिट्ठी लाकर दी, उस दिन वे जैसे खुशी के मारे उठे-उठे फिरे। इस घर, उस घर; इस पड़ोसी को पकड़ा, उस पड़ोसी को शायद पिनाई और जब सांझ पड़े बाहर से लौटे, तो गुच्छ थे। उजली देखते ही चीख पड़ी, “फूटे मेरे करम, फिर कहीं डूब गए।”

“भरी, आज मत बोल। आज तो खुशी का दिन है। और क्या तू समझती है कि मैं नये में हूँ। भरी बावली, आज कई दिन के बाद होश आया है। ला दे...”

“अब क्या मेरा धून पियोगे ?”

“बदमाश राड, बक-बक करे जाय है। जब तक तू नहीं पिलाएगी, तब तक पूरी तरह होश थोड़े ही आएगा।”

और उस दिन पूरे चार प्याले पीकर उठे। दो अधिकार से मागे, फिर दो के लिए पैर पकड़ लिए। और उसके बाद रात-भर वह हंगामा बरपा किया कि खुशी की इतना हो गई। कई दिन बाद उजली ने दूर के रिश्ते के एक बँतकल्लुफ चचा के सामने कहा, “अच्छा, मैं पीने को मना नहीं करती। पर कहूँ हूँ कि उतनी ही पी, जितनी भेल सके।”

“रहने दे, रहने दे, शिष्टायत को। मैं नहीं भेलता तो क्या तू भेलती है ?”

“हां, मैं तो भेलूँ ही हूँ। त्रिन्दगी-भर यही किया है। वह बात है अच्छा कि अपना मरण, जगत की हासी। अब किसके सामने जाकर रोज ?”

अच्छा ने विश्वास-भरे स्वर में कहा, “भरी बावली, किसीके सामने

५४ मेरी प्रिय कहानियाँ

रोए दुश्मन । तेरे जाये किनने लायक हूँ । जगदीश बाबू बन गया, कन्हैया कॉलेज में गया । तू तो राज करेगी, राज । करने दे उसे मनमानी । हमेशा तेरी चिरीरी करेगा....”

बाबू विदरावन एकदम बोले, “निरीरी क्या मैं अब नहीं करता ? यही एक काम मैंने जिन्दगी-भर नियम से किया है । तभी तो नम्बरदार का दिमाग चट गया । पर तू कह दे चच्चा, मैंने कभी होश खोया है या चूँह और सिरियां की तरों किसीको छेड़ा है ! मैं इसे कैसे समझाऊँ कि मैं तो पीता ही होश में आने के लिए हूँ । बिना पिये तू जाने, बदन टूटा रहे, मुंह में जायका नहीं, काम में मन नहीं । बुरे-बुरे खयाल आवें ।”

उजली ने धीरे से कहा, “सो तो ठीक है चच्चा, पर मैं न रोकूँ तो क्या ये अति नहीं करेगे । अब मैं कब तक बँठी रहूँगी । कोई अमर पट्टा तो लिखवा के लाई नहीं ।”

“और जैसे मैं ही लिखवा के लाया हूँ । अरे नम्बरदार, पता नहीं, कब कौन जाए ! सो हम अफसोस क्यों करें !”

चच्चा ने जोश में भरकर कहा, “अफसोस करें तुम्हारे दुश्मन । सारा मोहल्ला तुम्हारे भाग से ईर्ष्या करे है ।”

“सब नम्बरदार का प्रताप है ।”

“हां, हां, मेरा तो है ही,” उजली ने शरारत से हंसते हुए बाबू विदरावन की आंखों में सीधे भाँका । और भूमती-इठलाती अन्दर चली गई । बाबू विदरावन ने हंसते हुए कहा, “देख, देख चच्चा, इसका इतराना । मुझे तो कुछ समझे ही नहीं....”

उस गहन तमिस्रा में सुख की बातें याद करके उजली का जी कसकने लगा । जैसे बढई वरमे से पेंच को कसता हो और पेंच एँठ पै एँठ देकर लकड़ी को आरपार बंधता चला जाए । जगदीश नौकर हो गया तो बड़े अरमानों से उसका विवाह किया । कई दिन तक सिर से पैर तक सोने में लदी गर्व से सीना ताने घूमती रही । हरेक से कहा, “मेरी बहू, वो उता क्या कहें हैं

उने, हां जी, एफ० ए० पाम है। ना भाभो, वह पत्नी ना करे है और बात वो है कि रजपानी मे रहें हैं, औरों की तरों पदा वस हमारे साथ ही जाएगा। पर बहनी, एक बात बहुत अच्छी है। वह डेढ़ सौ रुपया महीना कमा सके है। बी० ए० कर ले, तो तीन सौ मिलेंगे। जगदीश तो बी० ए० बी० टी० कराने को कहे है।”

फिर तीन साल वह को बी० ए० और ट्रेनिंग करने में लग गए। बी० टी० करने पजाव जाना पडा। हर महीने सौ रुपये का मनीऑर्डर करावे थी। छुट्टियों में घाती तो घामे-पीछे घूमती। जाती तो सामान उठाकर पीछे-पीछे तागे तक छोडकर आती। वह नित नया जूडा बाधती। खुले मुह, खुले सिर घूमती। कई दिन तक चिरादरी में धजूबा बनी रही। मास्टरनी बन गई, तो घर में नया कमरा बना, नया फर्नीचर आया। वह फूलो-फूली फिरी...

एकएक अपने को चौंकाती हुई वह जैसे अपने ही आपसे बोलती, और जब छोटे का विवाह किया था तो क्या मैं कम खुश हुई थी। वह बजिद था कि खूबमूरत बीबी लाएगा। गोरी-गोगे, मोटी-मोटी। भाभी जैसी सांबली लम्बी नहीं। मुझे नहीं चाहिए पढी-लिखी...

जैसे हसी हो। खुद भी लाला बी० ए० में फेल हो गए थे। दर भाग का खेल देखो। नई तरों के मकान बनाने में ऐसा दीदा जुडा कि रुपया बरसने लगा और फिर तो मचमुच सिगल शीप की पद्मिनी लाया। उलती ने दांतो तले उगली काटकर बार-बार बर्तया ली। फिर घर-घर जाकर सबको खांचकर खाई, “देख तो भाभी, वह क्या है घूप का डला है। घर में उजाला हो गया।”

बधाई देकर पडोस की जिठानी बोली, “तेरे बड़े भाग विदरावन की वह। एक वह आई तो गुरसती, दूसरी आई तो रती।”

गुरसती और रती कौन हैं, यह वह बड़ी वह से कई बार सुन चुकी थी। भाज उन शब्दों का प्रयोग करके जैसे उसने अपने को उनसे भी बडा साबित कर दिया।

५६ मेरी प्रिय कहानियां

रति का नाम मां-बाप ने बड़े प्यार से रमा रखा था और सोच-समझकर पैसेवालों के घर उसका विवाह किया था, जिसमें वह सोने में लदी रहे और उसे काम भी न करना पड़े। उन्होंने नृपचाप अपने दामाद से यह वचन भी ले लिया था कि वह घाटी के बाद अलग जाकर रहेगा। इसलिए तीन महीने भी न बीतने पाए थे कि छोटे बेटे श्री कन्हैयालाल ठेकेदार ने अपनी अम्मा से कहा, “अम्मा, मैं कन रमा को लेकर चंडीगढ़ जा रहा हूँ और अब वहीं रहा करूँगा।”

उजली को इस बात की आशंका तो थी, लेकिन इस आकस्मिकता से वह धक्-सी रह गई। यह ठीक है कि वह आसानी से नहीं भुकी थी। घर में कई दिन तक ठंडा तूपान घुमड़ता रहा था, पर रमा और कन्हैया ने उसकी जरा भी चिन्ता नहीं की। जैसे उन्हें सूचना देनी थी, दे दी।

जिस दिन वे गए, उस दिन उजली की बड़ी-बड़ी आंखों में खून उबलता रहा, पर मजाल कि छलक जाए। किसीने पूछा भी तो कह दिया, “चण्डीगढ़ में इस वार लम्बा ठेका लिया है। अब तुम जानो, खाने-पीने की दिक्कत ही है।”

भाभी हंसी, “अरी, सच क्यों न कहे कि नई-नई जवानी है। रति को कहीं अकेला थोड़े ही छोड़ा जा सकता है।”

उस क्षण मन मारकर वह भी हंस पड़ी थी और सच तो यह है कि उसे रमा के जाने का इतना दुख नहीं था, जितना आनेवाली विपत्ता का। आज रमा गई, कल सुरसुती भी चली जाएगी। उसके तेवर भी बहुत दिन से बदलते दिखाई दे रहे थे। विवाह को चार साल से ज्यादा हो गए थे, लेकिन यह सारा समय वह पढ़ती ही रही या नौकरी की तलाश करती रही। घर में काम करना पड़ता, तो चिन-चिन कर उठती। वार-वार भीककर कहती, “माताजी, मुझे यह गन्दगी अच्छी नहीं लगती।”

“और माताजी, आप पिताजी को समझातीं क्यों नहीं कि वे इस तरह गाली न दिया करें।”

“माताजी, आप बाबूजी से कहिए ना कि शराब पीना अच्छी बात

नहीं है।"

पहले-पहले तो उजली ने ये बातें मुस्कराकर सुनीं। कहा भी, "हां-हां, वह, तू ठीक कह रहे है। मुझे भी यह सब अच्छा नहीं लगे है और मैं क्या कम समझाऊं हूँ ? पर उनकी तो कुछ समझ में आवे ही नहीं है।" लेकिन जैसे-जैसे सरस्वती का आग्रह बढ़ने लगा, वैसे-वैसे उजली का मन भी विधोभ से भरता चला गया, उसे बहू की बातें बुरी लगने लगी और वह मन ही मन अपने पति का बचाव करने लगी। अब न उसे गाली देने में कोई बुराई मालूम होनी थी, न शराब पीने में। इसलिए वह कभी-कभी बहू से बिगड़ भी जाती थी और दोनों में कहन-सुनन हो जाती थी। उसके लिए कारण दूजने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। मन में जब फांस गड़ जाती है, तो हरफ से चोट लगने लगती है। अखिर बहू ने अपने पति से कहा, "देखिए अब हमारा इस घर में रहना नहीं हो सकता। मैं तो माताजी का बिन-बिनाना सह सकती हूँ, बाबूजी की गालियाँ भी सह जाती हूँ पर मजुन का क्या होगा। तीन साल का हो गया है। अब सब कुछ समझता है। बार-बार उसकी उधान पर ये गानियाँ माती हैं। वह बाबा को पीते हुए भी देखता है। इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। मैं नहीं चाहती कि मेरा बेटा अपने बाबा की तरह पिए या गालियाँ दे।"

जगदीश ने धीरे से कहा, "वह तो मैं भी नहीं चाहता..."

"नहीं चाहते हो बर्दार्दर में क्यों नहीं चले चलते !"

"माँ को छोड़कर ?"

"जी हाँ ! माँ को छोड़ना ही होगा। आपको बुरा लगता है तो मुझे ही कह दो, मैं मजुन को लेकर चली जाती हूँ।"

जगदीश को अपने दिन अच्छी तरह याद थे। याद था उसे पिता की छाया से दूर रहने का माँ का मकसद। इमीलिए उसने उसी शांत भाव से कहा, "तुम धकेली क्यों जाओगी, पर मैं माँ की बात सोच रहा था। उसे कितना दुःख होगा...?"

सरस्वती ने बीच में ही बात काटकर कहा, "वह तो होगा। पर उसके

लिए अपने बच्चों को आकारा नहीं बनाया जा सकता !”

जगदीश बोला, “हां-हां, मैं इस बात से इंकार नहीं करता...पर”

बहू ने कहा, “फिर बड़ी पर। तुम क्या छोटे भाई से भी गए-ब्रीते हो। मां से गाफ बात भी नहीं कर सकते। यह तो तुम भी जानते हो कि कभी-कभी तुम्हारी जवान पर भी ये गालियां बुरी तरह आ चढ़ती हैं। हां, वह पीना तुमने अभी नहीं शुरू किया।”

जगदीश हंसा, “तुम्हें क्या पता ?”

सरस्वती भी हंसी, “मुझे सब पता है। तुम वह तो पी नहीं सकते, जो बाबूजी पीते हैं और विनायती शराब पीने के लिए तुम्हारी जेब में पैसे नहीं हैं।”

जगदीश ने दीर्घ निश्वास लींची, “तुम ठीक कहती हो; पर एक बात मैं तुमको बताता हूं। बाबूजी की इस लत से हमें बचाने के लिए मां ने क्या कुछ किया है, वह तुम नहीं जानतीं।”

बहू बोली, “उन्हें तो और कुछ करने को नहीं था। लेकिन मैं तो घर में नहीं रहती।”

कई दिन के बाद इधर-उधर की बातें करते हुए जगदीश ने उजली से कहा, “मां, यह मंजुल अब बहुत विगड़ता जा रहा है। गाली देने लगा है।”

उजली ने अपने बेटे की ओर दो क्षण गौर से देखा, फिर मुस्कराकर बोली, “तू भी तो इसी तरह विगड़ने लगा था।”

जगदीश को सहसा जवाब नहीं सूझा। कई क्षण नाखून से जमीन कुरेदता रहा। मां ही बोली, “जोरू के गुलाम, साफ-साफ क्यों नहीं कहता कि तेरी बहू का मन अब इस घर में नहीं लगता।”

जगदीश तिलमिला उठा। निमिष-मात्र में अंगार जैसे बहुत-से विचार उसके मन में आए, लेकिन अन्त में उसी शान्ति से उसने जवाब दिया, “कुछ भी समझ लो मां, तुम्हें भी परेशानी और हमें भी परेशानी। इससे क्या यह अच्छा नहीं होगा कि मैं क्वार्टर में चला जाऊं। अब तो मिल रहा है।”

उजली मुनकर घब्राने रह गई। यह जानकर भी कि वह भूकम्प को रोकने की चेष्टा कर रही है, उसने चिन्चिनाकर कहा, 'जाने वाले को कोन रोक सका है। तू भी जा। यह मैं जानती हूँ कि अगर कन्हैया न गया होता तो तेरी हिम्मत न होती। उसे परी ने लुभा लिया। अच्छा है, मैंने तो हमेशा ही पापड़ बेलें हैं। चिन्ता पर चढ़ने तक बेलती रहूंगी। तुम मुश रहो बेटे।'

जगदीश ने उस क्षण कोई जवाब नहीं दिया, लेकिन उसके बाद घर का वातावरण खिगड़ता ही गया। जरा-जरा-सी बान में महाभारत मचने लगा। लेकिन त्रिम दिन जगदीश क्वार्टर में गया, उस दिन उजली फिर फूलो-फूली फिरो। पाम-पडोस में यही कहा, 'सरकारी नौकरी है। बेटे को क्वार्टर मिल गया है। जाना ही पड़ेगा। मैंने तो बहुत कहा, 'किसीको बसा दे,' पर वहन, आजकल का जमाना, कोई शिकायत कर दे तो! इम-लिए सोचा, जाना ही ठीक होगा। वह तो बहुत रोवे है। मैंने कहा, 'दरे, शहर के शहर में हैं। कहीं दूर थोड़े ही हैं। और तुझे क्या, काम निबटा-कर चली भाइयो। मेरा भी तो मजुल के बिना जो नहीं लगेगा।'

पडोस की जिठानी बोली, 'हा, कभी वह भा जाए, कभी तू चली जाए।'

'ना जी, मेरा जाना कैसे होगा! अब एकाध दिन की बाह्र दूमरी है, नहीं तो वे क्या कही रह सके हैं? उन्हें तो मैं ही भेज रही हूँ...'

सहसा उजली को लगा, जैसे कोई दूर में उसका नाम लेकर पुकार रहा है। कोन है। स्वर तो परिचिन-मा है। और पाग भी भावा जा रहा है। पर यह स्वर इतना तेज क्यों है...

उमने हड़बडाकर धावें मोल दी। फिर भीच ली। फिर सीनी। धामराम फिर बिरपरिचिन धावाओं कानों में पड़ीं। मवेरे-मवेरे जतने-बालो घनीटियो में उठती कड़वी गप नाक में घुस आई...

घोड़ तो वह इसी दुनिया में, इसी घपने घर में है। और वाकू बिन्दा-

६० मेरी प्रिय कहानियां

चन उसे पुकारे जा रहे हैं। "अब उठेगी भी, रां..."

गद्द पूरा नहीं कर सके। कई दिन से ऐसा ही हो रहा है। गाली मुंह पर आ-आकर फिसल जाती है। इस मन को उनके अनावा और कौन पकड़े रहता है। वे अब उसी तेजी से गालियां क्यों नहीं दे पाते? क्या बूढ़े हो गए हैं...?

इस वहम से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने धाराव की मात्रा बढ़ा दी। अब वह अक्सर बाहर से ही गुच्च होकर लौटते हैं। फिर देर तक रोना-पीटना मचता रहता है।

लेकिन धीरे-धीरे उजली में फिर एक परिवर्तन आने लगा। वह अब चुप रहने लगी। उसने अपने-आपको फिर खिलीने बनाने में व्यस्त कर दिया। विशेष रूप से बड़े-बड़े बयुए बनाने में। पहले से भी अधिक तन्मयता से वह अब कागज कूटती, लुगदी तैयार करती, फिर सांचों में डालती और देर तक वैठी हुई उनके किनारों को साफ करती रहती। वह अब उन्हें पहले की तरह मिट्टी के टब में नहीं डाल देती थी, बल्कि घंटों वैठी-वैठी गिलास से उनके ऊपर धोली हुई खड़िया मिट्टी डालती रहती और सोचती रहती। इधर-उधर जहां कहीं कटा-फटा दिखाई देता, बार-बार उसे ठीक करती और फिर बड़ी सुघड़ता से धीरे-धीरे रंग लगाती। उस समय वह इस तरह डूब जाती कि लगता जैसे कोई सिद्धहस्त चित्रकार चित्र बना रहा है। जब उसकी पहली खेप तैयार हुई, तो बाबू विदरात्रन की आंखें उनपर जाकर अटक गईं। बोले, "अरे, ये बयुए तुम कहां से ले आईं?"

उजली ने हंसकर जवाब दिया, "जहां से तुम्हें ले आई थी। घर में रहते हुए भी तुम्हें पता नहीं रहता। आज ही तो बनाकर तैयार किए हैं।"

"सच, ये तुमने बनाए हैं?"

"जी नहीं, तुमने बनाए हैं।"

"ऐसा लगे है जैसे मशीन में तैयार हुए हैं।"

जिसने भी देखा, उसने यही कहा। उजली की छाती कई इंच फूल

गई। उससे भी अधिक उरमाह से उसने दूसरी खेप तैयार की। सामने की जिठानी की बहू ने मजाक भी किया, "भाभो जी आजकल बड़े जोश में हैं। बड़ी तेजी से सृष्टि कर रही हैं।"

उजली भी नहीं चुकी, "देख ले बहू, बूढ़ापे में भी तुमसे मुकाबला कर सकू हूँ।"

"रहने दो भाभो जी, पाच तो हो चुके हैं मेरे। आप तो दो में ही हार गई थी।"

जी में आया तटक में जवाब दे मारू कि तेरे पाच से मेरे दो कितने बड़े हैं। पर हसकर रह गई। अंतर में कोई कसक थी न। उसीने जैसे उसकी शक्ति को मन्द्र कर दिया। और जब दूकानदार खुशी-खुशी मुह मांगे जैसे देकर बबुओं को उठाकर ले गया, तो वह अन्दर कीठरी में जाकर मुक्क-मुक्ककर रो उठी।

इस बार मेला बहुत अच्छा हुआ। सारा मोहला खुश था। लेकिन स्योहार बीता, तो फिर गानी-गन्नीज, मारपीट होने लगी। सिरिया और चन्द्र अन्नगर धराच में गुच्च होकर मोहले को सर पर उठा लेते। लेकिन उजली फिर भी पहले की तरह ही काम में लगी रही। उसके बबुए और भी अच्छे बनने लगे। परन्तु इस बार उसने केवल पांच बबुए तैयार किए। प्यादा कर ही नहीं सकी, क्योंकि जिस प्रकार उसने अन्न-प्रत्यंग को साचों में ढासा, रंगों का मेल मिलाते में जिस प्रकार परिश्रम किया, वह सब देखते ही बनता था। उसे काम करते देखने के लिए पड़ोसियों उसे घेरे रहने लगी। पर उनकी चुहलबाजी भी उसका ध्यान न बढ़ा पाती। एक दिन जिठानी ने कहा, "हाय, मैं मर जाऊँ। कैसे जी-जान में लगी है। जैसे पिरान टाल देगी। ऐं री, ऐसी लगन से तो तने अपने जाये भी नहीं पाले होंगे!"

रंग भरने में बँसी ही तन्मयता से व्यस्त उजली ने जवाब दिया, "ये क्या मेरे जाने नहीं हैं?"

सबमुच उसने उन्हें अपने गेट के बच्चों की तरह ही सजाया। तभी तो जिस दिन वे बनकर तैयार हुए, उस दिन वह फूली नहीं समाई। हंसते-हंसते बोली, 'देग लो भाभो, आदमी क्या नहीं कर सकता। अब ये मैंने ही तो बनाए हैं।'

भाभो ने कहा, "अरी तू तो हमेशा से ही ऐसी ही रही है। तूने कभी जो चाहा हो, और वह न हुआ हो। पर नजर न लगे वह, वयुए बने बड़े खूबसूरत है। पांच-पाच से कम में न बिकेंगे।"

उजली बोली, "पांच की बात करो हो। दस से कम नहीं लूंगी। अभी तो देखती जाओ, आंखों के रंग पूरे नहीं हुए हैं।"

"हाय राम, अभी कुछ और करना बाकी है। राम मारी ऐसी सुन्दर आंखें हैं कि उठा के चूमने को जो करे है।"

"छाती में भरने को नहीं करे है?"

"सच, ऐसा मन करे है कि गोद में लिटाकर एकटक इन आंखों को देखती रहू।"

दूसरी गद्गद होकर बोली, "अरी, तूने तो जैसे मेरे मन की बात कह दी।"

तीसरी, चौथी, पांचवीं सभी ने यही कहा। जब तक फैशनेबुल दूकान का मालिक सीदा तय नहीं कर गया, तब तक वे बेजान खिलौने मोहल्ले की ज़िन्दगी में जान डाले रहे। उस दिन मोहाविण्ट-सी उजली ने भी दूकान के मालिक से कहा, "आज नहीं, कल आकर ले जाना।"

उस दिन छुट्टी थी। जगदीश सपरिवार आया था। कन्हैया भी वहाँ के साथ आया हुआ था। वेटे, बहुयों सभी ने उजली की कला की खूब तारीफ की। सरस्वती ने चिरीरी करते हुए कहा, "अम्मा, हमको भी तो बनाकर दो।"

छोटी बोली, "हाँ, हाँ अम्मा, ये तो बड़े प्यारे हैं।"

उजली बड़े जोर से हँसी, "अरी, तुमको तो तुम्हारे प्यारे में कभी के बनाकर दे चुकी।"

दोनों वहुएँ लजा गईं और अन्दर घाते हुए बाबू बिन्दरावन बड़े जोर से 'हो-हो' करके हस पड़े। बोले, "पर भाई, इन्हें भी लेने खरीदार भा पहुँचा है।"

फिर पीछे मुड़े, "भासो भाई, ले जायो। अभी तो रखे हैं। किसीकी नजर लग गई तो..."

भादमी पैकिंग-केस लेकर आया था। उजली ने बड़े प्यार से सम्भाल-कर पहला बबुआ उसकी दिया, लेकिन तभी न जाने क्या हुआ, बड़े जोर से उसके हाथ का धरका लगा और बबुआ भादमी के हाथ से नीचे भांगन में गिरकर चूर-चूर हो गया...

सब जैसे सकत में आ गए। लेकिन उजली के चेहरे पर अब भी उसी तरह शान्ति थी। उसने एक क्षण उन टुकड़ों की ओर देखा, दूसरे क्षण दूसरा बबुआ उठाया और उन टुकड़ों पर पटक दिया, फिर तीसरा, चौथा और पाबवा भी उठाया और पटक दिया। और फिर दूढ़ स्वर में कहा, "टूट गए तो टूट जाने दो, मैंने ही तो बनाए थे, और बना लूगी, दस दिन वाद भाकर ले जाना भाई।"

और जैसे कुछ हुआ ही न हो, किसी ओर देखे बिना उसी सादगी से मुड़कर कोठरी में चली गई।

जरूरत

सहायता-केंद्र में धीरे-धीरे सन्नाटा घहराने लगता है। कर्मचारी सामान समेटने में व्यस्त हो जाते हैं।

कुछ क्षण पलले यहां स्त्री-वर्चों और बूढ़ों की एक भीड़ इकट्ठी हुई थी। एक असहाय-बेवस, मंत्र-कीलित भीड़, भूख जैसे दीमक बनकर उनके अस्तित्व को चाट गई थी। वह निरीह दृष्टि, हताशा से घूसर सपाट चेहरे, शून्य में झांकने में भी मानो उन्हें कष्ट हो रहा था। वे न इनसान थे न लार्श, धिनौने आकार-मात्र थे जो केवल इतना कह सकते थे, “गरीबों को देखने वाला कोई नहीं है।”

वे पंक्तिबद्ध भी नहीं बैठे थे। बस बैठे थे। उनके सामने पत्ते पड़े थे और हर पत्ते पर एक रोटी, एक मुट्ठी सोयाबीन और थोड़ा-सा वाजरा था। जिसके पत्ते पर कुछ नहीं पड़ा था वह मांग नहीं रहा था। टुकर-टुकर देखना ही जैसे उसकी नियति हो। हां, नंग-धड़ंग दुबले-पतले भुक्कड़ वच्चे उन पत्तों पर टूट पड़े थे। मगर उनके चेहरों पर भी मुसकान की कोई रेखा नहीं थी। शिशु में जो कुछ तरल होता है, उस सबको भूख ने जैसे सोख लिया था। बस शेष रह गई थी एकमात्र मौत की डरावनी छाया, जो अपने डैने फैलाए समग्र अस्तित्व पर छाई हुई थी। वातावरण में श्मशान की चिरायंघ भरी हुई थी और दूर-दूर तक क्षितिज को छूती हुई

फैली पड़ी थी सूखी जमीन, जहां जानवर चारे के प्रभाव में थककर गिर जाते, धाकनाश में गिट्टी और कौश्रों की टोली डूने पसारती, धरती पर कंकाल (कुत्ते) हाफ-हांफकर ऐसे भीकते कि उनकी घबल दंत-पकितया छाती में सालने लगतीं ।

भ्राज भ्रादमी मर गया है । काश, परमेश्वर मर जाता ! तब उसे कोई पुकारता तो नहीं । उसकी मोहिनी माया के पीछे अपनी असमर्थता को छिपाकर भूखे यह तो न कहने, "हे परमेश्वर, ऐसा कभी नहीं देखा ! "

और जो सपना है, उन्हें यह धोषणा करने का साहस न होता, "भ्रादमी को खिलाए, ऐसे किस बाप के बेटे ने जनम लिया है; भगवान जिसको चाहे खिलाए, जिसको चाहे मारें ।"

उसी भगवान के राज्य में भ्रादमी ने भ्रादमी को उस दशा तक ला दिया कि धरती मा की छाती भी दरक गई और उसके भीतर छिपा हुआ कष्ट कुहरे-सा उबल-उबलकर सबको ग्रसने लगा । घान, बाजरा और मक्का किसीमें दाना नहीं पडा । जो चेहरे हंसने के लिए गढे गए थे, उनपर एक बेभ्रावाज धीरज उभर आया, लेकिन इसीलिए वह इतना मुखर है कि उसका आक्रोश-भरा चीत्कार बार-बार छाती में बज उठता है । उसीकी सुनकर देश-देश के लोग उनकी भूख पाटने को यहां आ पड़ते हैं ।

चलने-फिरते मुरदों की यह भीड़ जब यहां से जाने लगी थी, तब भी उनकी आंखों में वैसे ही निरपेक्ष उदासी तैर रही थी । अगला क्षण विकराल मुंह बाए उनके अस्तित्व को निगलने को जो खडा था । खाली भविष्य में भाकती हुई इन भूमिपुत्रों की वे खाली दृष्टियां...

बीज का अन्न तक वे खा चुके थे । भरखेरियों के वेर भी पकने से पहले ही खत्म हो गए थे । एक रोटी और एक मूट्ठी सोयाबीन इतना-भर ही आज उनके लिए ऐश्वर्य का स्वप्न हो गया था । घुटनों से टुड्डी जुड़ा-कर जितनी देर सो सकने, उतनी ही देर वे नये घान के सपने देखकर खुश हो सेंते थे । उतना-भर ही उनका अपना था, कष्टों के मरहस्यन में

आशा के मरुस्थान जैसा ।

दूर-दूर तक ऊबड़-खाबड़ धरती फैली पड़ी है, कभी-कभी कराहती हुई हवा उसपर घूल उड़ा जाती है । कर्मचारी कई क्षण बिना बोले ही सब कुछ समेटते रहने हैं । फिर एकाएक जोर-जोर से बातें करने लगते हैं । वही अकाल, भुलमरी और मौत की बातें । संध्या अभी भी दूर है, शायद कोई और आ जाए । इसीलिए बीच-बीच में वे दूर गांव की दिशा में देख लेते हैं । उजड़ी-प्रवजड़ी भोंपड़ियां, उनपर फैले गंदे चिथड़े, मिट्टी के बिना लिपे-पुने, टूटे धरौंदे, दूर से किसी आगत आतंक से प्रतीक-से प्रतीत होते हैं । उधर से होकर ही वह भीड़ आई थी, उधर से ही कोई और भी आ सकता है ।

समय धीरे-धीरे इस अनचाही प्रतीक्षा में रेंगता रहता है और कर्मचारियों के मन उचटने लगते हैं । तभी सहसा उनमें से एक बोल उठता है, "वह देखो, वह एक औरत आ रही है ।"

वह औरत ही है । छोटे-छोटे उलभेवाल, कीच-भरी बुभी-बुभी-सी आंखें, भूख उसके सूजे हुए मुंह पर सलवटें नहीं डाल पाई, पर जगह-जगह जैसे खाल जमकर फट गई है । पूरे वदन पर मौत की जकड़न तेज हो रही है । चलते-चलते लड़खड़ाती है । एकमात्र घोती, अगर उसे घोती कहा जा सके, तार-तार होकर कंधे से खिसक गई है ।

वह धीरे-धीरे पास आती है । फिर एकाएक ठिठक जाती है और टोली से बिछुड़ी मरताऊ बछिया-सी खाली-खाली दृष्टि से एकटक केंद्र की ओर देखती रहती है । न पास आती है, न कुछ मांगती है । दो क्षण कर्मचारी भी कुछ नहीं बोलते, फिर उनमें से एक उसके पास जाकर कहता है, "अब तक कहां थी ? आ, इधर बैठ ।"

वह यंत्रवत् उस स्थान पर बैठ जाती है । कर्मचारी उसके सामने पत्ता रख जाता है, फिर रोटी, वाजरा, सोयाबीन । खाने वाला अब और कोई नहीं है । इसलिए कर्मचारी उदार हो उठता है । बार-बार कुछ न कुछ रख जाता है और वह मुंह में घास डालकर चबाती तक नहीं है । बिना

कोई स्वाद लिए ही निगलती जाती है। भूल का मानो स्वाद से कोई संबंध ही नहीं है।

एकाएक एक कर्मचारी उससे पूछता है, "कब से नहीं खाया?"

उत्तर झोठों पर कापकर रह जाता है। कर्मचारी अपना प्रश्न फिर दोहराता है, "कब से नहीं खाया?"

वह बुदबुदाती है, "पता नहीं?"

"भात कब खाया था?"

"याद नहीं।"

"तुम्हारे धीरे कोई है?"

उत्तर एक बार फिर झोठों पर कापकर रह जाता है, पर दृष्टि में तरल जंसा कुछ नहीं है। क्षणिक सघर्ष के बाद वह फिर उमी तरह बुदबुदाती है, "बहू थी, तीन बच्चों के साथ कुएं में कूदकर मर गई।"

ऐसी बातें झपट अस्वाभाविक नहीं हैं। एकाएक कोई चोंकता भी नहीं, फिर भी उसके मुह से यह सुनकर वह कर्मचारी एक क्षण के लिए झबूझसा हो रहता है। उसके बाद ही पूछ पाता है, "बेटा कहा है?"

वही निःसंग उत्तर, "कलकत्ता में मिल में काम करता है।"

कर्मचारी चुपचाप धीरे खाना परोस देता है। वह उसे भी बड़े धीरे के साथ निगल जाती है। ककाल की क्षुधा-तृप्ति का अर्थ नहीं जानती। इसलिए जब वह उठती है तो कर्मचारी को निमित्त-मात्र के लिए उसके मूजं चेहरे पर सलग्न तृप्ति की मुमकान का आभास-सा होता है, मानो जलती घरती पर वर्षा की कोई बूद टपक पड़ती है। वह जिघर से झाई थी उघर ही लोट चलती है। नङ्खडाहट जरा भी कम नहीं हुई है। उसके गंदे, उलभे, छोटे-छोटे बाल पीछे से धीरे भी वितृष्णा पैदा करने हैं। वह धीरे-धीरे चलती रहती है। कर्मचारी उसे देखते रहते हैं, लेकिन दृष्टि में मोहक होने से पूर्व नारी का वह पाकार घरती पर बैठ जाता है, निश्चेष्ट, निडाल...

कर्मचारी कह उठता है, "बेचारी!"

किसी सीमा तक संतुष्ट होकर वे सब फिर काम में व्यस्त हो जाते हैं। काफी देर तक उस और को नही देगता, पर उसकी उपस्थिति के प्रति सभी मजबूत हैं। कई क्षण बाद आकूल दृष्टि अपने-प्राप ही उधर उठ जाती है। पता लगता है कि वह अभी तक वहीं बैठी है। एक कर्मचारी कहता है, "पेट-भर खाने के बाद की थकान सचमुच बड़ी भयानक होती है।"

दूसरा अनुमोदन करना है, "और फिर इतने दिन बाद खाया हो तब तो..."

तीसरा मुस्कुराना है, "इसे कुछ थोड़ा खाना चाहिए था।"

एकाएक उन तीनों को लगता है कि वे इसी बात पर ठहाका लगाएं, लेकिन जैसे अदृश्य अपना हाथ उनके मुँह पर रख देता है। कुछ क्षण फिर व्यतीत हो जाते हैं। वह वहीं लेटी रहती है। शायद जाने के लिए कोई स्थान नहीं है। कर्मचारी के मन में एक अजीब-सी संवेदना उभरने लगती है। एकाएक एक विचार कोंव जाता है, 'जरा देखूँ तो। न हो इस केंद्र में ही पड़ी रहेगी।'

और वह उसके पास पहुँचता है। पाता है कि डेर की डेर मक्खियाँ उसे घेरकर उत्सव मना रही हैं। और असंख्य कीड़े-मकोड़ों ने उसे जैसे ढक लिया है। एकाएक घबराकर वह उसके ऊपर झुक जाता है और उसके मुँह से एक चीख निकल जाती है। दूसरे ही क्षण केंद्र से कई व्यक्ति भागते हुए वहाँ आ जाते हैं। वे सब एकसाथ झुककर देखते जाते हैं। फिर सिर हिला-हिलाकर वारी-वारी से दीर्घ निश्वास करते हैं। एक कहता है "मर गई बेचारी!"

"तृप्ति भी अकसर प्राण ले लेती है।"

"बेचारी न जाने कब की भूखी थी! इसीलिए पेट-भर खाना पचा नहीं सकी।"

"पर कुछ भी हो, भूखी नहीं मरी।"

फिर सब चुप हो जाते हैं। अंतर की मनचाही गाड़ी-गाड़ी वेदना सब-

के चेहरो पर उभर आती है, मानों सन्नाटा कराह उठा हो। व्यवस्थापक चुपचाप जाते हैं और केंद्र से एक चादर लाकर उसे सिर से पैर तक ढक देते हैं। कर्मचारी को बुलाकर कहते हैं, "मे तो अब जा रहा हू, लेकिन तुम इसकी अन्वेषिणी का प्रबन्ध कर देना।"

और जाते समय जेब से निकालकर पचास रुपये दे जाते हैं। रुपये देते हुए सबमुच उनके नमन सजल हो उठते हैं। मुल पर दीप्ति उभर आती है। चारों ओर दृष्टि उठाकर इस प्रकार देखते हैं मानो उन्हें पूर्ण नृत्ति मिल गई हो। सिर झुकाकर और हाथ जोड़कर शव को प्रणाम करना भी वे नहीं भूलते। लेकिन चिरायध जरा भी कम नहीं हुई है।

गाव में औरतें ही औरतें हैं, बूढ़ी, अधेड़, जवान औरतें। मंद के नाम पर दुबले-पतले, सहमे-सहमे भुक्कड़ बच्चे या ठठरी बने हुए कुछ बूढ़े, जो बस खासते ही रहते हैं। दोप सब मंद कमाने गए हैं। जो दो अधबूढ़े दिखाई देते हैं, वे बीमार होने के कारण अभी-अभी शहर से लौटे हैं। डाक्टर ने उन्हें कोई इन्जेक्शन लगवाने और दूध पीने को कहा था। सुनकर वे हस पड़े थे। उतर दिया था, "दूध तो भाल आजने को भी नहीं है डाक्टर साहब। मुट्ठी-भर बेर भी नहीं हैं। मा की छाती दरक गई है। वह सब-कुछ निगल गई है। बचा-खुचा शहर में चला गया।"

उन्हींके पास पहुंचकर कर्मचारी ने कहा, "उधर एक औरत मर गई है। उसकी अन्वेषिणी करनी है। सामान कहा मिलेगा?"

एक अधबूढ़े ने जवाब दिया, "पास ही सब कुछ मिल सकता है। पैसा होना चाहिए।"

कर्मचारी ने उत्तर दिया, 'व्यवस्थापक पचास रुपये दे गए हैं, तुम मेरे साथ चलो।'

पचास रुपये का नाम सुनकर एकाएक उन दोनों की भालें फट जाती हैं। गहर-गहर करते कई क्षणों तक अवाक्-अबूझ देखने रहने हैं। फिर एकाएक उनमें से एक तेजी से भौपड़ी के अन्दर घुम जाता है और दूसरे ही क्षण नाठी लेकर उस हनप्रभ कर्मचारी पर टूट पड़ता है। रुपये छीन

७० मेरी प्रिय कहानियां

लेता है। मंचरज कि उसका साथी कुछ नहीं कहता ! यह भी नहीं देखता कि कर्मचारी के कहां चोट लगी है। रुपये लेकर दोनों तेजी से शहर वाली सड़क पर दौड़ पड़ते हैं। बिजली कौबने जितने क्षणों में यह सब-कुछ घट जाता है।

तीसरे दिन जब पुनिस उन दोनों घबबूहे व्यक्तियों को गिरफ्तार करती है तो वे बेभिभक्त उत्तर देने हैं, "जी हां, हमने ही रुपये छीने हैं। मांगते तो हमें मिलते नहीं। नाश को टाट का कफन मिले या रेशम का, मिले भी या न मिले, क्या फर्क पड़ना है, पर हमें जीने के लिए रुपयों की सस्त जरूरत थी, डाक्टर साहब से पूछ लीजिए।"

राजम्मा

आहट पाकर देखता हू कि सामने राजम्मा खड़ी है। उसी क्षण भूकम्प का तीव्र आवेग मुझे सिर से पैर तक कम्पायमान करता हुआ निकल गया। विस्फारित नयन उसे ठीक तरह से देख पाऊ कि वह बोल उठी, “बयो, आश्चर्य हो रहा है ?”

घोर फिर सहज भाव से विलखिलाकर हंस आई। फिर दूसरे ही क्षण उसी आकस्मिकता के साथ मौन भी हो गई। मैं अब भी हतप्रभ उसे देखे जा रहा था। सब कहूँ, उसका नाम राजम्मा नहीं, क्या है, यह नहीं बताऊंगा क्योंकि वह नाम घोर भी अनेक नारियों का है। तभी एकाएक उसने कहा, “क्या मुझे बैठने के लिए भी नहीं कहोगे ?”

मैं तुरन्त भपराधी-सा बोला, “घामो-घामो, बंटो। घर में कोई नहीं है, इस समय कैसे आना हुआ। नारायणन कहा है...?”

वह फिर हसी घोर फिर पहले ही की तरह चुप होकर बोली, “नारायणन आज दौरे पर गए हैं। इस बार मेरा जाना नहीं हुआ। उनकी गाड़ी रवाना हुए तीन घंटे बीत चुके हैं। अब लौटने की कोई आशा नहीं।”

अब तक वह सहज भाव से सोफे पर बैठ चुकी थी घोर मेरे इतना पास थी कि मैं उसके श्वास की गन्ध अनुभव कर सकता था। मैंने व्यर्थ ही हंसने की चेष्टा की, कहा, “जान पड़ता है नारायणन के बिना तुम्हारा

७० मेरी प्रिय कहानियां

लेता है। अचरज कि उसका साथी कुछ नहीं कहता ! यह भी नहीं देखा कि कर्मचारी के कहां चोट लगी है। रुपये लेकर दोनों तेजी से शहर वाली सड़क पर दौड़ पड़ते हैं। बिजली कौंधने जितने क्षणों में यह सब-कुछ घट जाता है।

तीसरे दिन जब पुलिस उन दोनों अचबूढ़े व्यक्तियों को गिरफ्तार करती है तो वे बेभिन्नक उत्तर देने हैं, "जी हां, हमने ही रुपये छीने हैं। मांगते तो हमें मिलते नहीं। लाश को टाट का कफन मिले या रेशम का, मिले भी या न मिले, क्या फर्क पड़ता है, पर हमें जीने के लिए रुपयों की सख्त जरूरत थी, डाक्टर साहब से पूछ लीजिए।"

राजम्मा

घाहट पाकर देखता हू कि सामने राजम्मा खड़ी है। उसी क्षण भूकम्प का तीव्र आवेग मुझे सिर से पैर तक कम्पायमान करता हुआ निकल गया। विस्फारित नयन उसे ठीक तरह से देख पाऊ कि वह बोल उठी, “क्यों, आश्चर्य हो रहा है ?”

धीर फिर सहज भाव से खिलखिलाकर हंस पाई। फिर दूसरे ही क्षण उसी धाकड़िमकता के साथ मौन भी हो गई। मैं अब भी हतप्रभ उसे देखे जा रहा था। मच कहूं, उसका नाम राजम्मा नहीं, क्या है, यह नहीं बताऊंगा क्योंकि वह नाम धीर भी अनेक नारियो का है। तभी एकाएक उसने कहा, “क्या मुझे बैठने के लिए भी नहीं कहोगे ?”

मैं तुरन्त धपराधी-सा बोला, “घामो-घामो, बंटो। घर में कोई नहीं है, इस समय कैसे घाना हुआ। नारायणन कहाँ है...?”

वह फिर हंसी धीर फिर पहले ही की तरह चुप होकर बोली, “नारायणन आज दौरे पर गए हैं। इस बार मेरा जाना नहीं हुआ। उनकी गाड़ी खाना हुए तीन घंटे बीत चुके हैं। अब लोटने की कोई धासा नहीं।”

अब तक वह सहज भाव से सोफे पर बैठ चुकी थी धीर मेरे इतना पास थी कि मैं उसके ध्वास की गन्ध अनुभव कर सकता था। मैंने व्यर्थ ही हंसने की चेष्टा की, कहा, “जान पड़ता है नारायणन के बिना तुम्हारा

मन नहीं लगा और तुम इधर चली आईं।”

वह एकाएक बॉली नहीं। धुन्य में भांकती रही। एक-दो बार कन्-खियों से मुझे देख लेने पर ही उसने कहा, “यदि सच बोलने की आज्ञा दो तो मैं कहूँगी कि मैं इसलिए नहीं आई।”

“फिर ?”

“यह क्या बात है कि आते ही गणितज्ञ की तरह दो और दो चार वाला हिसाब करने लगे। कॉफी को भी नहीं पूछा। ना-ना उठो मत, वह काम मैं बहुत अच्छी तरह कर सकती हूँ। शमिष्ठा कहां क्या रखती है, यह सब मुझे मालूम है।”

उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह उठी और रसोईघर की ओर बढ़ गई। मैं जानता हूँ कि उसे कॉफी की इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी मुझसे दूर जाने की। लेकिन यह क्या, उठते न उठते उसके मुंह से ‘आह’ निकल गई। मैंने हठात् विचलित होकर उसकी ओर देखा। उस क्षण उसका चेहरा दर्द से सफेद हो आया था। परन्तु दृष्टि मिलते ही वह मुक्त भाव से हंसी और पीड़ा जो थी वह घनीभूत होकर आंखों में केन्द्रित हो आई। मैं लगभग पागल जैसा हो उठा। बोला, “क्या बात है भाभी। सच कहो। मैं तब तक तुम्हें कहीं नहीं जाने दूंगा।”

राजम्मा धीरे से बोली, “बात तो तुम जानते हो।”

“मैं जानता हूँ? नहीं तो। मैं तो कुछ भी नहीं जानता। क्या तुम्हारी लवीपत खराब है या कहीं चोट लग गई है?”

वह इस बार मुस्कराई। पिछले कई वर्षों में मैंने उसको किसी असाधारण अवसर पर ही मुस्कराते देखा था। नहीं तो वह सदा खिलखिलाती रहती थी। उसने मुस्कराकर कहा, “क्यों, क्या तुमने नारायणन से यह नहीं कहा कि मैं तुमसे इस तरह बातें करने लगी हूँ जैसे कि तुम मेरे प्रेमी हो...”

दर्पण सामने होता तो निश्चय ही मैं अपने चेहरे पर राख पुती हुई पाता। रंगे हाथों पकड़े जाने पर किसीकी जो दशा होती है, वही मेरी

भी हुई। अन्तर का तुमुल नाद मुझे कपाने लगा। मैंने अनुभव किया जैसे मैं हाकने लगा हूँ। परन्तु प्रत्यक्ष में मैंने दृढ़ होने का नाटक करने हुए उत्तर दिया, "मैंने ठीक यही तो नहीं कहा था। पर जो कहा था उसका यह अर्थ निकाला जा सकता है।"

वह वैसे ही मुस्कराती हुई बोली, "सुनकर आश्चर्य हुआ। नारायणन ने ठीक किया।"

"क्या किया नारायणन ने?"

"देखो," उसने कहा और घुटने तक साड़ी उठा दी।

देखता हूँ, वहाँ एक बड़ा-सा घाव है, जिससे बहकर रक्त झर-झर जम गया है। घास-पास काफ़ी सूजन है। एक तीली कडवाहट भरी रगरग में सुलग उठी। मैंने चीखकर कहा, "यह क्या है?"

"तुमने अदालत में भुम्भवर अभियोग लगाया था। जज ने उन्नीकी सजा दी है।"

मैंने उसी कडवाहट से कहा, "बूट, जानवर! उसने तुमको मारा। माना कि..."

मैं अपना वाक्य पूरा कर पाता कि वह हस पड़ी। कई क्षण तक हँसती रही, बोली, "भार मानते हैं कि मैं अपराधिनी तो हूँ पर मुझे दण्ड नहीं देना चाहिए था। लेकिन जो न्यायाधीश अपराधी को दण्ड न दे, वह तो कर्तव्य से च्युत होगा न। नारायणन ने मुझे ठीक ही दण्ड दिया। यैसे वह मुझे मारना चाहता नहीं था। बेचारा अन्तरमन से मजबूर हो गया और कील ठोकने के लिए लकड़ी का जो लौंदा उसने उठाया था, वही उसने मुझ-पर फेंक मारा।"

"उने ऐसा नहीं करना चाहिए था। मैंने वह बात गम्भीरता से थोड़े ही कही थी।" फिर एकाएक बोला, "छोड़ो-छोड़ो, इस भगडे की। तुमने दवा क्यों नहीं लगाई? रक्त, मैं अभी देखता हूँ, घर में क्या है। न हो तो मैं अभी बाजार जाकर मरहम ले आता हूँ। तुम तब तक बाँकी तैयार करो।"

मैं तेजी से उठा और उसी तेजी से वह बोनी, "न, न, साधारण चोट

७२ मेरी प्रिय कहानियां

मन नहीं लगा और तुम इधर चली आई।”

वह एकाएक बोली नहीं। धून्य में भाँकती रही। एक-दो वार कनखियों से मुझे देख लेने पर ही उसने कहा, “यदि सच बोलने की आज्ञा दो तो मैं कहूँगी कि मैं इसलिए नहीं आई।”

“फिर ?”

“यह क्या बात है कि आते ही गणितज्ञ की तरह दो और दो चार वाला हिसाब करने लगे। काँफी को भी नहीं पूछा। ना-ना उठो मत, वह काम मैं बहुत अच्छी तरह कर सकती हूँ। शर्मिष्ठा कहां क्या रखती है, यह सब मुझे मालूम है।”

उत्तर की अपेक्षा किए बिना वह उठी और रसोईघर की ओर बढ़ गई। मैं जानता हूँ कि उसे काँफी की इतनी इच्छा नहीं थी, जितनी मुझसे दूर जाने की। लेकिन यह क्या, उठते न उठते उसके मुँह से ‘आह’ निकल गई। मैंने हठात् विचलित होकर उसकी ओर देखा। उस क्षण उसका चेहरा दर्द से सफेद हो आया था। परन्तु दृष्टि मिलते ही वह मुक्त भाव से हंसी और पीड़ा जो थी वह घनीभूत होकर आंखों में केन्द्रित हो आई। मैं लगभग पागल जैसा हो उठा। बोला, “क्या बात है भाभी। सच कहो। मैं तब तक तुम्हें कहीं नहीं जाने दूँगा।”

राजम्मा धीरे से बोली, “बात तो तुम जानते हो।”

“मैं जानता हूँ ? नहीं तो। मैं तो कुछ भी नहीं जानता। क्या तुम्हारी तवीयत खराब है या कहीं चोट लग गई है ?”

वह इस वार मुस्कराई। पिछले कई वर्षों में मैंने उसको किसी असाधारण अवसर पर ही मुस्कराते देखा था। नहीं तो वह सदा खिलखिलाती रहती थी। उसने मुस्कराकर कहा, “क्यों, क्या तुमने नारायणन से यह नहीं कहा कि मैं तुमसे इस तरह बातें करने लगी हूँ जैसे कि तुम मेरे प्रेमी हो...”

दर्पण सामने होता तो निश्चय ही मैं अपने चेहरे पर राख पुती हुई पाता। रंगे हाथों पकड़े जाने पर किसीकी जो दशा होती है, वही मेरी

७४ मेरी प्रिय कहानियां

है, ठीक ही जाएगी। अमनी चोट तो मन की है। उसपर कौन-सा मरहम लग सकता है, अन्वत्ता यह बात विचारणीय हो सकती है।”

पर मैं उसका भाषण सुनने के लिए रुका नहीं। जैसा बँटा था वैसा ही पैरों में चप्पल डालकर उठ आया। ज्ञाने भी फिर नहीं रोका। उसी स्थान पर खड़ी हंसती-हंसती मुझे जाने देखती रही और मैं न जाने कब तक चलता रहा। न जाने उससे कितनी दूर निकल आया। वह सामने राजघाट ही तो था। पर उसके द्वार बन्द हो चुके थे। शान्ति-वन के लॉन में ही जाकर मैंने सांस ली। यन्त्रवत् घास पर लेट गया। अब जान सका कि सारा शरीर पसीने से तर है। भूल गया धाव, भूल गया दबा, बस मेरे तन-मन को राजम्मा की मुक्त हंसी ने जकड़ लिया। उसीमें आकण्ठ डूबता चला गया, वैसे ही जैसे योगी ब्रह्मानन्द सरोवर में डूबता जाता है। जो डूबता है वही तो तिरता है। ‘अनबूड़े बूड़े तरे जो बूड़े तेहि रंग।’ लेकिन सचमुच क्या मैं डूब गया था? मैं तो उस हंसी से भागकर आया था। वह हंसी जो निरन्तर मेरे पीछे लगी हुई थी। यह सारा वातावरण उसीकी अनुगूँज से तो भरा हुआ है। मेरे अन्तरमन को यह गूँज कैसे सहला रही है। अपने से ही पूछता हूँ, ‘यह कौन है?’

यह राजम्मा है।

न-न यह राजम्मा नहीं है। यह एक स्त्री है। वैसे ही नारायणन भी सचमुच नारायणन नहीं है। वह वही है जो सारे पुरुष हैं। वह राजम्मा का पति भी ऐसे ही है जैसे हर स्त्री का एक पति होता है। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है कि विवाह के तीसरे दिन उसने अपने कुछ मित्रों को प्रीति-भोज पर आमन्त्रित किया था क्योंकि फिर वह हनीमून पर जाने वाला था। उस दिन जैसे ही मैंने घर में प्रवेश किया तो हठात् चौंक आया। एक मुक्त हंसी की मादक धारा सारे वातावरण को आवेष्टित किए हुए थी। मेरे तन-मन में जैसे विभोर कर देने वाली हिलोरें उठने लगीं। बरबस ठिठक गया और वह मुक्त धारा बहती रही। कई क्षण बाद मित्र की दृष्टि मुझ-पर पड़ी तो वह चौंखकर बोला, “अरे राजगोपाल, वहाँ क्या बुल की तरह

खड़े हों ! घर में घुमने के लिए क्या तुम्हें अब प्राज्ञा लेनी होगी ?”

अन्धवत् उत्तर दिया, “लेनी तो होगी ही ! गृहस्वामिनी जो घा गई है।”

प्रागे बढ़कर पाता हूँ कि सामने नयवधू के बेश में यह राजम्मा ही तो है। पर यह कैसी बधू है, न शूगार, न मूख पर लज्जा की लाली, न आँसों में स्मित हास्य। बस एक स्वस्थ-मुन्दर युवती जिसे सद्गुण भाव से कार्य में मलिन है उसी सद्गुण भाव से हूमे जा रही है। परिचय होने पर बोली, “देवर जी, आपकी प्रसिद्धि आपसे पहले यहाँ पहुँच गई है और मैं कहूँगी उसमें मेरा परिचय भी गहरा चुका है।”

मैंने उत्प्लुब्ध होकर कहा, “मच, तब तो मैं मीभाग्यशाली हूँ।”

“अच्छा जी, आप भी हम माया का प्रयोग करेंगे ? कैम मित्र है। शायद आप भी दर्शनशास्त्र पढ़ते हैं। यूँ तो आपके मित्र भी कम दार्शनिक नहीं हैं। उन्हें इनका भी पता नहीं रहता कि मेरा हाथ है या उनका अपना।”

कहकर वह मुधत भाव में हसी। मैंने उत्तर दिया, “अब तुम और वह क्या दो हैं। सो तुम्हारा हाथ इनका हाथ है और इनका हाथ तुम्हारा हाथ है।”

“जी हाँ, इनका धर्म मेरा धर्म है और मेरा धर्म इनका धर्म है। यानी पुरुष और नारी दोनों का धर्म एक ही है।”

कहकर वह धाराल से हसी। एक क्षण तो हम अचूक-से देखते रहे। फिर समझकर इतने जोर से हूमे कि पड़ोसी भी चौक पड़े होंगे। आवेग कुछ कम हुआ तो मैंने नारायणन से कहा, “तुम्हें यात्रा करने का बडा धीक है। अब तुम्हें अकेले बोर नहीं होना पड़ेगा। हमारी भाभी के साथ तुम्हारे युग क्षणों में मोमित हो जाएंगे।”

राजम्मा बोली, “मैं इनके साथ कहीं भी जा सकती हूँ लेकिन यह मेरे साथ हर कहीं नहीं जा सकते।”

मैंने अचकचाकर पूछा, “क्या ऐसी भी कोई जगह है जहाँ केवल आप

७६ मेरी प्रिय कहानियां

ही जा सकती हैं।”

“जी हां, जरा बताएं तो कौन-सी है। आपकी बुद्धि की परीक्षा हो जाए।”

कई क्षण हम लोग चुप रहे। फिर मैंने कहा, “आज तो आपका ही दिन है। आप ही बताएं वह कौन-सी जगह है।”

वह ताली पीटकर बड़े जोर से हंसी। बोली, “हजरत, वह मॅटरनिटी हास्पिटल है।”

एक बार फिर वहां का आकाश उस मादक हमी से दोलायमान हो उठा। घर लौटकर मैंने अनुभव किया कि राजम्मा इतनी मुक्त और मुखर है कि वह बधू नहीं हो सकती, सखी होना ही उसकी नियति है। लेकिन यह नारायणन तो सखा जाति का प्राणी नहीं है। सचमुच दार्शनिक है। वह विचार में खो सकता है, रुजाल में नहीं। परन्तु कई दिन बाद मैंने अनुभव किया कि जैसे राजम्मा ने उसपर जादू कर दिया है। उसके बिना वह एक कदम भी नहीं चलता। हर एक बात के लिए उसके मुंह की ओर देखता है और वह है कि कहीं भिन्नक नहीं, तनिक भी संकोच नहीं। सहज उन्मुक्तता ही जैसे उसके जीवन का सत्य हो। उसी राजम्मा के रूप-जाल में वह डूब गया। लेकिन यौवन शाश्वत होने पर भी किसी एक को पकड़कर नहीं बैठता। उसके उफान में डूबे नारायणन की दार्शनिकता एक दिन फिर तल पर आ गई। उस दिन पाया कि वह कुछ उदास-उदास है। पूछा, “क्या बात है नारायणन ?”

“कुछ नहीं।”

“न, न, कुछ नहीं कैसे ? तुम इतने उदास तो कभी नहीं रहते।”

“उदास।” एक क्षण उसने मुझे ऐसे देखा कि मैं सिहर उठा। वह बोला, “हां, मित्र मैं सचमुच बेचैनी अनुभव कर रहा हूँ।”

“कोई कारण ?”

“कारण तो है पर कहते डरता हूँ।”

“मुझसे ?”

“हां, वचन दोहसोगे नहीं।”

“जी नहीं, हमने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सकता। वह तो ऐसा ही है जैसे तुम कहो कि मित्रता छोड़ दो।”

नारायणन ने एक क्षण मुझे देखा, फिर कहा, “सब कुछ छूट सकता है राजगोपाल। दुनिया में सब कुछ संभव है।”

“दार्शनिक महोदय ! मैं अभी डूबा नहीं हूँ। तैर सकता हूँ। सो वचन की चिन्ता किए बिना कहिए क्या कहना है।”

वह कई क्षण मौन बंठा रहा घोर मैं उसे देखता रहा। धनरत्ने का बोझ तों मन को पीस देता है। आखिर वही दृष्य जिसका मुझे डर था। वह बोला, “तुम मेरे अभिन्न मित्र हों। क्या राजम्मा से कुछ बातें कर सकोगे ?”

“राजम्मा से ! क्यों ?”

“राजगोपाल ? क्या तुम यह धनुभव नहीं करते कि राजम्मा धनरत्न बहुत खोर से हंसती है। बान-बेबात, बकन-बेबकन, वग वह हंसती ही है। नहीं जानती कि किसके सामने क्या कहना है ? कैसे कहना है, कैसे नहीं ? आखिर हर बात की एक मर्यादा होती है।”

क्षण-भर मैं एक विराट प्रश्न मेरे धनरत्न-पट पर उभर आया। मैंने धीरे से कहा, “क्या सचमुच तुम्हें युरा लगता है ?”

“हां।”

“तब तुमने स्वयं क्यों नहीं कहा ? उसके लिए जो तुम हो सकते हो वह कोई दूसरा कैसे हो सकता है ?”

वह एक क्षण भिम्बवा, फिर मेरी छांतों में अपनी छांत्में टानकर बोला, “मित्र, मैं सचमुच उसे प्यार करता हूँ। मैं उसे खाना नहीं चाहता। मैं बान करूंगा तो सायद कोई गलतफहमी पैदा हो जाए।”

कई क्षण बाद मैंने धीरे से कहा, “बड़ा कठिन बान करने को कहा है। सबेन करके देखूंगा।”

“हां, हाँ, बस सबेन करने की ही बान है।”

एक दिन मुविधा पाकर मैंने वह दुस्साहस कर ही उल्ला। क्षण के सहस्रवें भाग जितने समय में एक छाया-सी उसके गौरवर्ण मुख पर आकर चली गई। पर उसने उत्तर देने की जरा भी चेष्टा नहीं की। और उसके वाद उसने जैसा व्यवहार किया उससे तो मैं यही अनुमान कर सका कि वह मेरे संकेत को समझ नहीं सकी। कई बार ऐसा ही हुआ। तब एक दिन मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा—“भाभी ! तुम तो एकदम मुक्त हो। तुम्हारी सहजता को कोई नहीं पहुंच सकता। कभी-कभी तुम्हारी हंसी से बड़ा डर लगता है।”

“सच ?”

“और क्या ? नारायणन की याद आती है तो कांप उठता हूं। कहां वह दार्शनिक, अपने में मिमटा, चारों ओर से वन्द और कहां तुम उन्मुक्त, सहज, विधाता भी ऐसा लगता है कि तुम दोनों का जोड़ा मिलाते समय दर्शन की किसी गुत्थी को सुलभाने में लगे हुए थे। नारायणन की सारी विनोदवृत्ति भी तुम्हें ही सौंप दी।”

वह उसी मुक्त भाव से हंस रही थी। बोली, “विधाता ने अच्छा ही किया नहीं तो बेचारी मैं दर्शन के कास पर बलिदान हो जाती।”

मैंने कहा, “कास जिन्होंने उठाया है संसार ने उनकी पूजा की है।”

वह बोली, “पूजा करने को और जीने को क्या तुम एक ही मानते हो ?”

हठात् मैंने उसकी ओर देखा। कुछ उत्तर देते न बना। थोड़ी देर बाद वही बोली, “देवर जी ! आपका संकेत नहीं समझती, यह बात नहीं है। कई बार आप कह चुके हैं और किसके आदेश पर कह रहे हैं यह भी मैं जानती हूं। लेकिन स्वभाव पानी पर खींची गई रेखा नहीं है। और न सहजता ही कोई अपराध है।”

मैं क्या उत्तर देता। एकान्त पाकर नारायणन से कहा, “देखो भाई, यह तुम दोनों का मामला है। मुझे बीच में क्यों डालते हो ? वैसे भी पति-पत्नी के बीच में आना खतरनाक है।”

नारायणन ने कोई उत्तर नहीं दिया। जैसे बात यही समाप्त हो गई। काफी दिन बीत गए। एक लम्बी रात्रा के बाद सौटकर उस दिन नारायणन मेरे पास आया तो वह बहुत उदास था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा, "राजगोपाल, अब मुझमें नहीं सहा जाता। तुम्हें उसे सब कुछ बताना ही होगा। इस सारी रात्रा में हमने एक-दूसरे से बचने की कितनी कोशिश की है!"

मैंने कहा, "तुम दोनों ने या केवल तुमने?"

उसने उत्तर दिया, "कुछ नहीं छिपाऊंगा। कोशिश मैंने ही की थी। यह तो तुम भी अनुभव करते होगे कि मैं कितना बिड़बिड़ा हो आया हूँ। घर वाले चार-चार मुझमें कहते हैं, 'तुम बहू को समझाते क्यों नहीं? यह अल्ट्राड लडकी नहीं है। कुलीन घराने की बधु है। उसके कुछ दायित्व हैं।' "

मैंने कहा, "तुमने कभी बात करने की कोशिश की?"

"हां, एक-आध बार बरते-डरते कहा, पर उसने जैसे सुना ही न हो।"

मैंने कहा, "कुछ दिन तुम सब लोग चुप रहो। कुछ बातें अपने-आप ही ठीक हो जाती हैं।"

नारायणन के प्रति न्याय करते हुए मैं कहूंगा कि उसने कई महीने तक कुछ भी नहीं कहा। ऐसे व्यवहार किया जैसे कुछ नहीं हुआ। लेकिन जैसा राजम्मा ने कहा था कि स्वभाव पानी पर खींची गई लकीर की तरह नहीं होता, यह अपने को उनकी इच्छा के अनुसार नहीं ढाल सकी। और दोनों के बीच की खाई बढ़ती ही गई। दुखी होकर एक दिन मैंने राजम्मा को समझाने की चेष्टा की और कहा, "देखो भाभी! नारायणन बहुत कष्ट में है।"

राजम्मा ने सहज भाव से उत्तर दिया, "उनका कष्ट मैं जानती हूँ। लेकिन क्या मुझे यह पूछने का अधिकार नहीं है कि वे मेरा इस प्रकार अविश्वास क्यों करते हैं? और जब करते हैं तब मुझमें आशा क्यों रखते हैं कि मैं उनका विश्वास करूँ?"

मैंने अत्यन्त विनम्र होकर कहा, “भाभी, आपको क्रोध आ गया है। मैं जानता हूँ आप किन्ती सहज और सरल हैं लेकिन कभी-कभी परिस्थितियां फूल की सहज गंध को भी स्वीकार नहीं करती।”

“तब क्या फूल को आत्महत्या कर लेनी चाहिए ?”

“फूल तो जड़ होता है लेकिन आप तो चेतन हैं। आपकी पीड़ा को न जानता हूँ यह बात नहीं, परन्तु फिर भी मैं यह कहूँगा कि संयम आत्महत्या नहीं है।”

“पर क्यों संयम की बात मुझसे कही जाती है, क्या मैं उच्छ्रंखल हूँ, क्या मैंने कोई पाप किया है? जानूँ तो सही कि मेरा अपराध क्या है?”

“मैं मानता हूँ हर स्खलन अपराध नहीं...।”

उसने तुरन्त इस शब्द को पकड़ लिया। किंचित् कठोर होकर बोली, “तुम इसे स्खलन कहोगे ?”

मैं सिहर उठा, बोला, “नहीं, नहीं, यह स्खलन नहीं है। वास्तव में मैं शब्द नहीं दे सकता, भापा, कितनी अपर्याप्त है! पर भाभी, आप दोनों का एक-दूसरे के प्रति दायित्व तो है ही। आप नारायणन से प्रेम करती हैं। जिसको हम प्रेम करते हैं उसके सुख के लिए...।”

वह तीव्र हो उठी; बोली, “क्या यही बात मैं उनके लिए नहीं कह सकती? वह यदि सचमुच प्रेम करते हैं तो उन्होंने आपको बीच में क्यों डाला ?”

मैं जवाब न देकर उसकी ओर देखता रहा। उस क्षण उसके मुख का तेज, उसकी आंखों की दीप्ति जैसे मुझ समूचे को आत्मसात् कर गई हो। कैसा था वह जीवन-प्राण को ग्रसने वाला तीव्र आकर्षण। यंत्रवत् मैं इतना ही कह सका “भाभी, आप सच कह सकती हैं। गलती मेरी थी। क्षमा कर देना...।”

उतनी देर में उसने अपने को फिर संयत कर लिया। बोली, “नहीं, नहीं, तुम्हारी गलती नहीं है। गलती जिसकी है वह हम दोनों जानते हैं लेकिन विश्वास कीजिए मैं कुछ नहीं कर सकती। कुछ नहीं करूँगी।”

उसके बाद वह यकायक वहा से चली गई। मुझे लगा जैसे मेरे अन्दर का राजगोपाल एक संजीवन-परस पाकर बदल चुका है। मैंने नारायणन को सब कुछ बताकर कहा, “अब मैं कुछ नहीं कर सकूंगा। मुझे डर है कि...”

नारायणन हटात् बोला, “ठीक है, अब तुम कुछ नहीं करोगे।”

लेकिन इन तरह कब तक चल सकता था। उस दिन किसी उत्सव पर परिवार के बड़े-बूढ़े इकट्ठे हुए थे। राजम्मा उसी सहज मुक्त भाव से सबसे व्यवहार करती रही जैसे सदा करती थी। उन लोगों की भृकुटिया चढ़ गई। और नारायणन भी मचमुच ही क्रुद्ध हो उठा, उसने मुझसे कहा, “राजगोपाल ! एक बार और प्रयत्न नहीं करोगे, अन्तिम बार।”

मैं मना नहीं कर सका। मैंने राजम्मा से बातें कीं। ऐसे कि जैसे हम दोनों अभिन्न हों। उसने भी अपना हृदय खोलकर रख दिया। बोली, “मैं सब कुछ कर सकती हूँ, लेकिन अविश्वास को स्वीकार नहीं कर सकती।”

और वह चली गई। उसके बाद आज ही तो वह आई है। और मैं उससे भागकर वहा घास पर लेटा पड़ा हूँ। मैं जो उसकी चोट के लिए मरहम लेने आया था, हड़बड़ाकर उठ बैठा। घड़ी की ओर देखा, ११ बजने वाले थे। ८ बजे मैं घर से चला था। तीन लम्बे घण्टे बीत गए। मोह बाबा, क्या सोचती होगी वह। यह मैंने क्या किया ? लज्जा और ग्लानि से मैं गड़-गड़ गया। सामने टैंकसी जा रही थी। उसे पुकारा और घर पहुँचा। यंत्रवत् द्वार खोलकर अन्दर घुसा। बैठक में अभी भी रोशनी थी। घुसकर देखता हूँ कि वहा कोई नहीं है। मेज पर रखी काफी कभी की ठण्डी होकर काली पड़ गई है। ट्रे के नीचे एक कागज रखा है—भपटकर उसे उठा लाया। लिखा था—“मेरे प्रिय राजगोपाल ! आखिर तुम नारायणन के दोस्त ही तो हो। मुझसे भागना चाहते हो ? लेकिन भाग सकोगे ? तीन घण्टे राह देखकर जा रही हूँ। अब साहस हो तो यह अपने मित्र को दिखा देना। मैं तुमसे प्यार करती हूँ। यह सब है। तुम्हारी राजम्मा”

उस क्षण पहली बार मैंने अनुभव किया कि जैसे मैं राजम्मा के प्यार में घाकण्ड डूबा हुआ हूँ।

ढोलक पर थाप

द्वार की घण्टी बजाने पर मिसेज चावला बाहर आईं। वह अभी पिछले महीने ही 'स्टेट्स' में रहकर लौटी थीं। मुझे देखकर वह मुस्कराई और एक यान्त्रिक गरमजोशी से 'हलो' कहकर मेरा स्वागत किया। यह तरीका शायद उन्होंने 'स्टेट्स' में सीखा था। उम्र वैसे उनकी ३५ से ऊपर हो चुकी थी, लेकिन जाहिरा वह बहुत ही चुस्त और मोहक दिखाई देने का असफल प्रयत्न कर रही थीं। मुझे सोफे पर बिठाकर वह तुरन्त अन्दर जाने को मुड़ीं, फिर दरवाजे पर सहसा ठिठकीं, बोलीं "क्या पीएंगे, मुझे आपकी गांधी टोपी देखकर डर लगता है, लेकिन मैं जानती हूँ कभी-कभी तो आप पी ही लेते हैं। अच्छा, आप 'स्टेट्स' कभी गए हैं? मैंने वहाँ कई अमेरिकन्स को गांधी टोपी पहने देखा है। साड़ियों की वहाँ इतनी मांग है कि अच्छा-खासा एक्सचेन्ज पैदा किया जा सकता है। तुम्हारा क्या ख्याल है? प्रदीप से कहूँ कि वह वहाँ एक डुकान खोल ले। सच सुशील...आई एम सो सॉरी। मिस्टर वर्मा कहना चाहिए..."

मैंने बात काटकर कहा, "नहीं, नहीं, आप सुशील ही कह सकती हैं, मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

"तब तो आप स्काँच भी ले सकते हैं। मैं अभी जाती हूँ। लौटकर 'स्टेट्स' के बारे में बताऊँगी।"

उनके जाने के बाद मैंने कमरे में चारों ओर देखा । पहले भी उनके घर कई बार घा चुका हूँ, लेकिन न जाने क्यों इस बार मुझे विशेष रूप से ऐसा लगा, जैसे कमरे में भारत की गन्ध घा रही है । दीवारों के पीछे से मणिपुरी नृत्य-मुद्रा में एक युगल बस गकेत की राह देख रहा था । रामेश्वरम् से भाए गए कई गुन्दर शस्त्र और सीपियां इधर-उधर जैसे बिखरे थे । दीवार पर अमूर्त शैली के दो चित्र थे और कारनिश पर करयक नृत्य-मुद्रा में एक नर्तकी का बड़ा धारा-सा चित्र रखा था और उधर लखनऊ के...

तभी श्रीमती चावला लोट आई । मुस्कराकर बोली, "आपको अच्छा लग रहा है न ! ये सब चीजें मैंने अभी-अभी खरीदी हैं । इस बार 'स्टेट्स' में मैंने नये गिरे से भारत की खोज की । तुम मानोगे न कि बाहर जाकर अपने को पहचाना जा सकता है । मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, जब मैंने वहाँ अपने एक अमेरिकन मित्र के घर ढोलक के गीत सुने ।"

जो अब तक नहीं देख सका था, वही ढोलक मेज पर रखी थी । सहसा निमंत्रण का रहस्य स्पष्ट हो गया । कहा, "सोच रहा था कि आपने किस उपलक्ष्य में भारतीय संगीत का आयोजन किया है ।"

वह ऐसे मुस्कराई कि उनकी धनुषाकार बनी भौंहें कुछ अधिक लम्बी हो गईं । बोली, "बिल्कुल घरेलू पार्टी है । मन किया कि ढोलक के गीत सुने जाएं, इसलिए कुछ अन्तरंग मित्रों को बुलाया है । आप तो जानते होंगे?"

मैंने आश्चर्य से कहा, "आपका मतलब है कि मैं ढोलक पर गाना जानता हूँ?"

"बसो, नहीं जानते ! आपके वे कवि...तो अक्सर गाते हैं ।"

"जी नहीं, मैं नहीं गाता । मैंने अपनी मा-बाबू की गाते सुना जरूर है । नाचते हुए भी देखा है, लेकिन वह जमाना तो अब बीत गया ।"

मितेश चावला एकाएक गविता-सी बोली, "यही तो गलती है आपकी । बीतना कुछ नहीं । अमेरिका के लोग ढालक के गीत बहुत पसन्द करते हैं । सबमुख वे हैं भी बहुत प्यारे । मेरे तो पाँव थिरक उठते हैं । आप

शर्मा को तो जानते हैं। वही गुप्रसिद्ध नृत्यकार। उसने मुझे इस बार नाचने को विवश कर दिया। कैसा गुन्दर बजाता है, लेकिन वह अभी तक लौटा ही नहीं। मैंने सोचा, शायद आप जानते होंगे।”

मैंने कहा, “जी नहीं, मैं नहीं जानता। पर आप तो जानती हैं।”

वह प्रसन्नता की मुद्रा में नजाकत से हंसीं, “हां, थोड़ा-थोड़ा जानती हूँ—लेकिन ढोलक बजाना और नाचना दोनों एक साथ तो नहीं हो सकते।”

“और लोग भी तो आने वाले हैं।”

तभी द्वार पर फिर किसीने घण्टी बजाई। वह तुरन्त उठकर चली गई। और मैं इस बार बुक-गेलफ में रखी किताबें देखने लगा। वे सभी भारतीय संगीत, नृत्य और नाट्य के सम्बन्ध में थीं। नहीं जानता कि वे पढ़ी गई थीं या नहीं। इससे पहले कि मैं उन्हें पास से देख पाता, मिसेज चावला एक जोड़ा मेहमान के साथ लौट आईं। गद्गद होकर बोलीं, “मिस्टर सुशील, इनसे मिलिए। ये हैं मिस्टर टी० एन० माथुर और ये हैं मिसेज मृदुला माथुर। दोनों फॉरेन सर्विस में हैं। अक्सर बाहर रहते हैं। तीन महीने के लिए भारत आए हैं। स्टेट्स में मैंने मिस्टर माथुर को भारतीय संस्कृति पर बोलते सुना है। ही इज सिम्पली एन इम्प्रेसिव स्पीकर....”

मिस्टर माथुर ने सहसा अपना मुंह गोल बनाकर कहा, “ओह नो...। मिसेज चावला, मैं पण्डित नहीं हूँ।”

मिसेज चावला ने उस और ध्यान नहीं दिया। बोलीं, “यह मृदुला माथुर संस्कृत में एम० ए० हैं। कालिदास पर अथॉरिटी मानी जाती है।”

मृदुला माथुर ने हंसकर तुरन्त प्रतिवाद किया, “आई लव भवभूति। उस दिन तो विवश होकर कालिदास पर बोलना पड़ा था।”

मिसेज चावला ने इसपर भी ध्यान नहीं दिया। कहती रहीं, “ये वी० वी० सी० पर प्रोग्राम करती रही हैं। कविता बहुत सुन्दर पढ़ती हैं। आपने सुनी होंगी।”

मैंने उनका नाम कभी नहीं सुना था, लेकिन मुस्कराकर कहा, "वहाँ मेरे एक मित्र हैं। उन्होंने एक बार इनकी बड़ी तारीफ की थी।"

सहसा मृदुला ने बड़े गौर से मेरी ओर देखा। हसती, "रियली?"
"जी हाँ।"

"इट्ज बेरी नाइस घॉफ यू, थैन्क यू।"

भादचयं, उन्होंने उन मित्र का नाम नहीं पूछा। वह किसी भी दृष्टि से प्रीट नहीं थी। 'मिक्मप' के कारण भायु ओर भी कम लगती थी। लेकिन मिस्टर माथुर अफसराना अदबो-भादाव की साकार प्रतिमा थे। आंखों में गरुर था और चेहरे पर तनाय। इसके विपरीत मिसेज माथुर हर वक्त एक मुस्कान चिपकाए रहती थी। और मुझे स्वीकार करना पडेगा कि वह मुस्कान उन्हे मोहक बना रही थी। उनके विरामिडी जूड़े पर चांदी का फूल और घुमरू टके थे। मैंने अब देखा, गले का हार भी चांदी का था।

सहसा उन्होंने मेरी ओर से ध्यान हटाकर ढोलक की ओर देखा और मुस्कराकर बोली, "सो देयर इट इज, लेकिन मिसेज चावला, बजाएगा कीन ? मेरा मन आज नाचने को करता है। राच ! इण्डिया में तो मैं बोर हो जाती हूँ।"

मिसेज चावला ने उत्तर दिया, "मैं तो समझती थी भाव बजाएंगी।"

उन्होंने तीव्र प्रतिरोध के अन्दाज में जवाब दिया, "नो, नो, मैं बिल्कुल बजाना नहीं जानती। बाहर की बात और है। वहा तो मुझे बहुत कुछ ऐगा करना पड़ता है, जो मैं नहीं चाहती, लेकिन..."

वे शायद कहना चाहती थी कि मुझे यह सब पसन्द नहीं है, लेकिन तभी मिस्टर माथुर ने उन्हें टोक दिया, "बेरी में अज की गोप-बधू के वेश में तुम कितना सुन्दर नाची थी। आज भी नाचो तो हम बजा सकते हैं।"

ओर किसीकी प्रतिश्रिया की चिन्ता किए बिना वह बड़े ओर से हंस पडे। मैंने उनका साथ देना चाहा। न जाने क्यों उनसे सहानुभूति हो आई थी, लेकिन तभी मेरी दृष्टि मृदुला माथुर की गोंहो पर गई, जो तन धुकी थी और वह इस तरह मिस्टर माथुर की ओर देख रही थी, जैसे उन्होंने

उनका घोर अपमान किया हो। एकाएक मेरा दिल धकधक करने लगा। लेकिन तभी नौकर एक ट्रे में स्काँच ले आया। मिनेज चावला ने सबके हाथों में एक-एक गिलास देकर पूछा, "मिस्टर माथुर! मुना है, इस बार आपका पोस्टिंग नोटिसमें क्या हो रहा है।"

मिस्टर माथुर बोले, "जी हाँ, मेरी वहाँ जाने की इच्छा थी। बहुत सुन्दर देश है। मुझे वहाँ की प्रकृति बहुत प्यारी लगती है।"

मिनेज चावला सिप करती हुई बोलीं, "लेकिन मिस्टर माथुर, वहाँ तो बहुत गरमी है।"

मिस्टर माथुर ने कहा, "उमसे क्या! शराब भी बहुत होती है।"

तब तक मिसेज मृदुला माथुर का तनाव दूर हो चुका था। वह मेरे पास आकर बैठ गई। बोलीं, "क्या सचमुच आपके मित्र मेरी तारीफ करते थे?"

मैंने कहा, "मुझे तो ऐसा ही लगता रहा। कोई और भी मृदुला माथुर हैं क्या?"

"मैं तो नहीं जानती। अच्छा, आप तो नाटक भी लिखते हैं?"

"लिखता तो हूँ।"

"मैंने इस बार आपका वह नाटक देखा था, 'क्याँरी घाटी'। सच कहती हूँ इट वाज ए हिट। नैवेद्य और मनोजा का एक्टिंग भी कैसा रियलिस्टिक था! किसी विदेशी नाटक का अनुवाद है ना?"

मैंने उनकी आँखों में गहरा भाँकते हुए उत्तर दिया, "जी नहीं, वह मेरा अपना लिखा हुआ है।"

"ओह, आई सी।" उनके स्वर में क्षमा-याचना का आभास तक न था। मुस्कराकर बोलीं, "आप लगते तो ऐसे नहीं। कुछ लोग अपने को छिपाना जानते हैं। किसी हिन्दुस्तानी नाटक की नायिका इतनी बोल्ड हो सकती है, यह मैं सोच भी नहीं सकती। हम लोग कितने बैकवर्ड हैं। अब भला देखिए..."

सहसा उनका स्वर कुछ तलख हो उठा। धीरे से बोलीं, "भला ढोलक

के गीत गाने की क्या जरूरत है। 'स्टेज्स' में उनकी उपयोगिता हो सकती है। डिप्लोमेसी की बात है। यहाँ तो हमको पश्चिमी नृत्य और संगीत का प्रचार करना चाहिए। इसी तरह तो हम एक-दूसरे के पास आ सकते हैं। और भारतीय नारी भी बोलड हो सकती हैं। क्यों, मैं कुछ गलत कह रही हूँ ?”

“जी नहीं, इसमें गलत क्या है। सहप्रस्तित्व के मन्त्रदाता तो हम ही हैं।”

“तो घाइए, तुछ 'स्टेज्स' हो जाएं। मिसेज चावला के पास कुछ रिकांडं तो होंगे ही।”

और वह मुडी, बोली, “मिसेज चावला ! आपके पास 'डॉस' के लिए कुछ रिकांडं्स हैं ?”

एकाएक मिस्टर माधुर ने न जाने क्या सोचकर कहा, “इनके पास भाजकल मुकेश के रिकांडं हैं।

मडुना मायूर कुछ तीव्र हों उठीं, “मोह, भाई हेट मुकेश। हि इज सिम्पली मनवेमरेबल। वह तो...”

मिसेज माधुर वाक्य पूरा कर पार्ती कि फिर घण्टी बजी। इस बार मिस्टर और मिसेज घापर और मिस्टर गुप्ता घ्राए थे। मिसेज घापर मुझे बहुत ही शान्त और घरेलू प्रकृति की महिला जान पडीं। उनके पति भी उतनी ऊंची सोसाइटी के व्यक्ति नहीं थे, लेकिन लम्बे कद के धीन काफ से दुस्त मिस्टर गुप्ता उन चतुर व्यक्तियों में से हैं, जो कहीं भी और कभी भी हारना नहीं जानते। घाते ही बड़ी घातमीयता से ऊंचे स्वर में बोले, “हनो एवरी बडी !”

वे प्रत्येक व्यक्ति के सामने झुके। उन्होंने भी अपने लहजे में 'हनो' का उत्तर दिया। वह ढोलक के सामने भी झुके। वहाँ से उन्हें जवाब की घाशा नहीं थी। लेकिन घवानक किस्तीने उसवर जोर से घाप दी और कमरा उसकी गूज से भर उठा। मिसेज मडुना माधुर उसके पाम खड़ी मुस्करा रही थी। मिस्टर गुप्ता तुरन्त उनके पास गए और बड़े जोर से

'शिक हैण्ट' करते हुए बोले, "यागके लिए ही आया हूँ। मालूम है कल सवेरे के प्लेन से इटली जा रहा हूँ।"

मिसेज मृदुला माथुर के चेहरे पर चिपकी मुस्कान मादक हो आई, बोली, "ओर मैं तुम्हें बताना दूँ। हम भी एक हफ्ते बाद उसी रास्ते स्टॉकहोम जा रहे हैं। मिस्टर माथुर गोल्फ के बहुत शौकीन हैं। सारी राजनीति गोल्फ के मैदान में ही तो निर्णित होती है।"

मिस्टर गुप्ता ने उत्तर दिया, "घन्यवाद। आप आइए, आपको सर-माधे पर लूंगा।"

अन्तिम शब्द उसने बहुत धीमे से कहे थे। निकट होने पर भी पूरी तरह नहीं सुन सका। मुद्रा देखकर ही उसका अर्थ समझ में आया। तब मेरा ध्यान मिस्टर माथुर की ओर चला गया। वह कमरे में अब भी एक अजनबी की तरह बैठे हुए थे। उनका गहुर उसी तरह उनके चेहरे पर चस्पा था और वह बराबर छत की ओर देख रहे थे। मैंने उनके पास जाकर कहा, "आप शायद बोर हो रहे हैं।"

मिस्टर माथुर ने अपनी कुहनियाँ सोफे की बांहों में गड़ाते हुए मेरी ओर उसी अफसराना अन्दाज से देखा, बोले, "थैंक यू।"

उसके बाद उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैंने मिसेज माथुर की ओर देखा, लेकिन वे गुप्ता के साथ लांज में जा चुकी थीं और मिसेज चावला मिसेज थापर से पूछ रही थीं, "आप तो ढोलक बजाना जानती ही होंगी।"

मिसेज थापर ने क्षमा-याचना के स्वर में कहा, "जी, बचपन में कभी बजाई थी, अब २० वर्ष से छुई तक नहीं।"

"कोशिश कर देखिए।"

"जी नहीं! गुम्मे कुछ नहीं आता। वक्त ही नहीं मिलता। थापर साहब कई बार कह चुके कि पियानो बजाना सीख लो, फॉरेन सर्विस में बहुत काम आएगा।"

मिसेज चावला ने कहा, "अच्छा! आप शराब भी बिल्कुल नहीं पीती?"

विशेष थापर फिर सिगियानी हंसी हंसी, "ओ नहीं, मैं पी ही नहीं सबनी।"

तब तब विशेष मूढना मापूर को सांज में छोड़कर मिस्टर गुप्ता अन्दर आ गए थे। धागे-धागे प्लेट में दराब के पैग लिए हुए नोकर था। एक दिमाक उगहोने मिस्टर थापर को दिमा, दूमरा विशेष थापर की घोर बहावा। विशेष थापर दो कदम पीछे हटती खमी गई, जब तक दीवार नहीं आ गई। बर्नोदि मिस्टर गुप्ता बराबर उनके साप-साप भागे बढ़ रहे थे। उगहोने धावहृषंक निवेदन किया, "आज तो धापको पीनी ही होगी। यह रबाब नहीं, पीरी है, धीरतों की मोठी बाराब।"

साय मानो बगार्ई के पंजों में फल गई हो। इसी मुद्र में विशेष थापर ने कहा, "भाई साहब। सब बहती हूं, मैं पी नहीं मक्खी।"

गुप्ता बोले, "मैं भाई साहब नहीं हूं। यह नात्रे-रिदने स्वापिन करने का विचार बहुत दबिनामूसी है। मैं निकें मिस्टर गुप्ता हूं धीर धाप विशेष थापर है, ओ बहुत चीम विदेन आ रही है। बाराब पीना बतंम्य है। धीर परिपत्री कहा करतें थे, 'बरांम्य ही पर्व है।' धापही आज पीनी ही होगी। धवने पति की बन्नाप-बामना के लिए पीनी होगी।"

बमरे में उतरिषण सदी मीप हम दुदय की देन-देस मुकरा रहे थे। दलानक वि मिस्टर मापूर भी मुग्गराए धीर बोले, "मिस्टर गुप्ता ठीक करते हैं। धापको पीना चाहिए। तारक मोन्क एग बानिग कम्पेनिदन दिंक इव ए बाट एव फांरेन सविम।"

मिस्टर थापर ने कहा, "ओ हा, मैं बहो बात्र हूँ कमनावे-ममनावे हार दना।"

मिस्टर गुप्ता ब्यास से बोले, "तुम भूम ही थापर, पति कही पत्नी को धारा रिना सबना है। धव दूह बना देल रहे हो, वेद धाउट।"

धीरे मिस्टर थापर हंसते हुए पान्त्रु पंगु की तरफ बाहर बने गए। हलके-बर्नोदिमानी विशेष मूढना मापूर भी उनके पीछे-पीछे बसी गई। विदेन बाराब धव लोकी में मुग्गरावे सदी की। मिस्टर गुप्ता ने

मिसेज थापर को अपने बाह्यांग में बांध लिया था और वह उनके ऊपर इस तरह से झुक गए थे, जैसे आमन्त्रण स्वीकृत हो चुका हो। उन्होंने गिन्नास उनके होंठों में लगाया, उनके दोनों हाथ नीचे फंसे हुए थे। उन्होंने तेजी से गर्दन हिलाई और होंठ भींचने का प्रयत्न किया, लेकिन गुप्ता ने न जाने कैसे उनके हाथ को 'ट्रिगस्ट' किया। वे तिलमिला उठों। होंठ खुले और शराब गले से नीचे उतर गई।

मिस्टर गुप्ता गर्व से चीखे, "ट्रैट्स टट, थ्रि चियर्स फार मिसेज थापर! अब आप दीक्षित हो गईं। मिसेज थापर जिन्दावाद!"

एकाएक सभी लोग अन्दर आ गए और हंसते हुए ताली बजाने लगे। मृदुला माथुर ने आगे बढ़कर टोनर पर जोर से थाप दी। उस कर्कश स्वर-घोष ने हम सबको कंपा दिया। तब तक मिसेज थापर अपने को संभाल चुकी थीं। आश्चर्य, उन्हें अपनी विवशता पर क्रोध नहीं आया। एक हल्कासा रोप अवश्य था, जो उनकी आंखों को अत्यन्त आकर्षक बना रहा था। मिस्टर थापर ने मुस्कारते हुए उनकी ओर देखा। बोले, "अब तुम इन्कार नहीं कर सकोगी, डालिंग।"

मिस्टर गुप्ता ने कहा, "उनकी ओर क्या देख रहे हो। पिंकी तो और भी सुन्दर लगेंगी। लो मिसेज थापर, काजू खाओ। मैं तुम्हें बताता हूँ। वोडका कितनी तेज शराब होती है। गला चीरकर रख देती है। पर उसको पीने का एक तरीका होता है। फर्स्ट सेक्रेटरी ने मुझे बताया था कि पैग को एकदम गले में उलट लो और फिर कुछ खाओ। बस, शरीर में जैसे जीवन की लहर दौड़ जाती है। आपको शुरू-शुरू में खाने पर पीना चाहिए। देखोगी कैसा आनन्द आता है।"

तभी बाहर से अन्तिम मेहमानों के आने की घोषणा हुई। वे मिस्टर और मिसेज खन्ना थे। मिसेज खन्ना की सुपरिचित मोहक मुस्कान से कोई नहीं बच सकता था। विशेष कर उनके जूड़े को अनदेखा करने का साहस किसीमें नहीं था। एकदम वाई और के कान की सीमा का अतिक्रमण करते हुए उस जूड़े में स्वर्णफूल जगमगा रहा था। बात करती-करती वह

प्रतिधाय उगी घोर झुक जाती थी। उन्होंने सापरवाही से शाल कंधे पर हाथी की घोर प्रयत्नपूर्वक प्रत्येक के पाग जाकर मुस्कराती थी। मानो कहती हो, 'मुझे देगी ! मैं कितनी गुन्दर हूँ।' लेकिन मिस्टर माधुर ने उनकी घोर ध्यान नहीं दिया। धागे बढकर मिस्टर सप्ता का हाथ भक्त-भोरने हुए कहा, "हलो मिस्टर सप्ता, कापेचुनेगन्म ! इनकी धानदार मर-गिरीज मैंने किमीके पाग नहीं देगी। मय ईर्ष्या करले है। सस्ती कितनी है, ईम थीर।"

मिस्टर सप्ता ने मुह में पादर दबाए-दबाए ही एक साम डंग में कंधे उषवाकर जवाब दिया, "जानो हो, मुझे कितनी खुशी देनी पड़ी?"

माधुर गूजे, 'डोण्ट टेन मी। मुझे जवादा नहीं दी होगी। स्टिल इट इज बेरी थीर। एक साज याद लागू हो। इडण्ट इट?"

मिस्टर सप्ता बोले, "वह तो है, फिर भी..."

यस मरु मयथा ध्यान विमेष धापर की घोर से हटकर मरमिरीज पर बे-टिण हो गया था। एक बार फिर उसे देखने के लिए वे सभी बाहर बने गए। सभी विमेष धारना ने घन्दर में धाकर कहा, "मय भोग बही गए। उपर माना मय खुश है।"

"मरमिरीज देखने गए है।"

"कोट, गुमीन। मयमुष बट देखने योग्य है। खान पटी प्यारी है। मानो मरु पर खैरती हो।"

धीर बट भी खनी ददे। सभी विमेष सप्ता घन्दर धाई घोर बनरे का बादशा मेकर जरीनेएव साम डंग में धावे मीकी फिर मौलकर मरुगार्ई घोर बोली, "इटेम में पीटकर, भाग्यीय बनना मुझे कैसा मरुता है मिस्टर गुमीन?"

ईने उतर दिया, "मुझे उनका बरा अनुभव ही मरुता है। धार ही बगार।"

उत्तरे धान की दिग्गुल मूचकर बट बोली, 'मिस्टर गुमीन ! धाव धार भोएव से हीने की धावने धान भी एक ऐसी ही मरमिरीज होगी !"

इस बार मैं मुस्करा दिया। वह भी मुस्कराई। उसमें तीव्र आक्रमण की गन्ध थी। पास आकर अनुरोध-भरे स्वर में बोलीं, “एक नाटक मेरे लिए लिखो ना, सच बड़ी कामना है तुम्हारे नाटक में अभिनय करने की। मैं टी०वी० पर अनाउन्सर रह चुकी हूँ। अच्छा, आप यहाँ अकेले क्यों बैठे हैं? दोर नहीं हो रहे? मुझे तो इस वातावरण में सोलन की गन्ध आ रही है।”

और वह मुझे सींचती-सी ले चनीं। वहाँ जाकर रुका, जहाँ नौकर पैग तैयार कर रहा था। उन्होंने एक पैग बड़े अदबो-आदाब के साथ मुझे पेश किया, फिर दूसरे पैग को मेरे पैग से छुप्राती हुई बोलीं, “तुम्हारी लेखनी के लिए, प्रिय।”

फिर एक साथ पी गईं। मैं भी मोहाविष्ट-सा उनका अनुकरण करता रहा। दूसरा गिलास भरकर वह मुझे लांज में ले गईं। वहाँ एकान्त था, विल्कुल जैसे मुझसे सट गई हों। मेरी आंखों में भांकती हुई बोलीं, “नाटक के बारे में चर्चा करने के लिए मेरे घर आओ ना। खन्ना तो आजकल फूड मिनिस्ट्री में हैं। अक्सर रात को देर से लौटते हैं और मैं अकेली दोर होती रहती हूँ।...”

वे और पास खिसकीं कि तभी एक कहकहा उठा। मिसेज मृदला माथुर और मिस्टर गुप्ता वहाँ न जाने कब से खड़े थे। पास आकर गुप्ता ने कहा, “दो कलाकारों के इस मधुर मिलन के लिए...”

यह कहते-कहते उन्होंने चार गिलास लेकर हर एक के हाथों में थमा दिए। चारों ने गरमजोशी से एक-दूसरे के गिलासों को छुप्रा—किलक-किलक, लेकिन वे हींठों तक पहुंचे कि किसीने जोर-जोर से ढोलक पर थाप देनी शुरू की।

“हेलो, एवरीबडी, खाना लग चुका है। बादल घिरे आ रहे हैं।”

मिसेज खन्ना ने एकाएक कानों में उंगली देकर कहा, “इडियट! ओह कितनी कर्कश आवाज है।”

मिसेज माथुर गुप्ता से बोलीं, “मुझे भुख नहीं है। तुम्हें लग रही है क्या?”

मिस्टर गुप्ता ने धातिरी घूंट भरो, घोर बोले, "एक सञ्चे मदं को भानि में तो बहुत भूखा हूँ। कम एलाग एवरीबदी।"

कुछ देर बाद खाने के उस शोर में जिसमें स्काँच, भरसिहीज, जूडे, गरुर घोर मुस्कान गबकी गन्ध घुलीमिली थी, मिस्टर माथुर को छोड़कर कोई यह न जान सका कि बाहर सचमुच बूँदें पड़ने लगी हैं और दूर चतुर्थ वगं के कर्मचारियों के बवार्टरों में कोई ढोलक पर गा रहा है :

दिल्ली को जाना सजनवा,
साड़ी लाना बसन्ती
साड़ी भी लाना, जम्फर भी लाना,
नयनों को लाना कजरवा,
साड़ी लाना बसन्ती ।

मिस्टर माथुर सबसे हटकर अकेले खिड़की के पास खड़े थे, जैसे कहीं रो गए हों। मैंने पास आकर कहा, "ढोलक के गीत सुन रहे हैं?"

वे अचरुचाकर बोले, "घोह नो, बाहर बूँदें पड़ रही हैं। और मिस्टर सन्ना की भरसिहीज पर कोई बबर नहीं है। मैं उनसे कर्ता हूँ।"...

वे सन्ना की घोर तेजी से बडे घोरमें उस शोर में एक बार फिर अकेला पडा रह गया ।

खिलौने

दीपा विभोर-सी देखती रही। वर्ष में नौ महीने जो गालियां देते और लड़ते रहते हैं, वे ही आजकल कैसे तन्मय होकर निर्माण में लगे हैं। दीवाली उनके लिए सचमुच लक्ष्मी-पूजन का दिन होती है।

वे घर-घर जाकर कागज इकट्ठे करते हैं। लुगदी तैयार करने में कैसा खटना पड़ता है, तब कहीं सांचों में जमाने लायक सामग्री तैयार होती है। उन्हींमें खिलौनों का ढांचा बनता है, केवल ढांचा। उसे तराशना, नाक-नक्श ठीक करना, फिर नाना रंगों से सजाना, पहले पिंडोल मिट्टी, फिर अंग-अंग के अलग रंग। उस दिन रेशमा कह रही थी, “बहिन जी, जितनी मेहनत पड़ती है उसका हिसाब कौन कर सकता है, वस यह बात है कि दो रोटियों का जुगाड़ हो जाता है। थी कभी कदर, अब तो तरह-तरह की मशीनें चल पड़ी हैं। बने-बनाए तैयार खिलौने बाहर आ जाते हैं, पर हाथ की मेहनत की बात और है। अंग-अंग बनाने में कितनी कारीगरी है। एक तो ऐसा जैसे रोता हो, दूसरे को देखकर दिल उछल-उछल पड़े।”

दीपा इसी कला को मुग्ध-मन देखती है। देखती रही है। उसके आस-पास प्रजापति रहते हैं, उनकी छतों पर नाना रूप-रंग के खिलौने बिखरे पड़े हैं, बड़े-बड़े वब्रूए हैं; मेम-साहब हैं, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-गणेश,

शिव-पावती आदि सभी देवता हैं। नाचें हैं, तो हवाई जहाज भी हैं। घोर वे छोटे-छोटे हाथी, घोड़े, गाय, बैल, स्त्री-पुरुष भ्रंगुली जित्तें। उन्हींके बनाने में लाखें घोर अगुलिया थक जाती हैं।

सहसा पदचाप सुनकर चौंक पड़ी। प्रोफेसर सुभाष कालेज से लौट आए थे घोर गुनगुना रहे थे अर्थात् प्रसन्न थे। वही से पुकारा, "दीपा, दीपू।"

"भानी हू," कहती हुई दीपा तुरन्त ही पास नहीं आ खड़ी हुई। मार्ग में एक-दो काम कर डाले। जाल पर जो कपड़े पड़े थे उन्हें सभाला, फिर जाली में से दूध लिया।

"भई सुनती नहीं, कहा हो?"

"घा तो रही हू। आप तो बस..."

दीपा पास आ गई तो प्रोफेसर जैसे कोई रहस्य प्रकट करते हुए बोले, "आज निश्चित हो गया।"

"क्या?"

"भव अनजान मत बनो।"

"सुनील की बात कहते हो?" दीपा सहसा उदाम हो आई।

"भव यही तो बात है। पहले सुन तो लेती। वह भाने ही वाला है। साथ में मधुमिता है।"

"मधुमिता?"

"हां, इस चार वाद-विवाद में प्रान्त-भर में प्रथम आई है। मैं ही तो निर्णायक था। अभिनय तो इतना सुन्दर करती है कि पना नहीं लगता कि वह पौडशी है या दादी-अम्मा। सुन्दर भी है। तुमने तो देखा है।"

"देखा है," दीपा ने कहा, मानो गह्वर में से बोनती हो। फिर एका-एक उद्विग्न हो उठी, "क्या भव उमसे शादी करना चाहता है?"

"हां, एक-दूसरे को बचन दे चुके हैं। मैंने अपने कानों से सुना है।"

"आपने?" अविद्वान से दीपा ने पति के मुख पर दृष्टि गड़ा दी। प्रोफेसर हँसे, "भव क्या बताऊ, सुन ही लिया।"

“और जब स्वतंत्रता से उसने वायदा किया था तब भी तो आपने मुन लिया था।”

तब तक प्रोफेसर कपड़े बदलकर सोफे पर बैठ चुके थे। बोले, “जरा यहां बैठो।”

“मुझे चाय बनानी है।”

“पहले मुन लो। गुस्सा मन करो।”

“मैं गुस्सा करती हूँ?”

“और क्या मैं करता हूँ? ऊपर से न दिखाओ, पर अन्दर से तो जल रही हो। मैं कहता हूँ, उमसे लाभ क्या? ...गुनो, मैं यह नहीं चाहता कि वह मुझे दकियानुमी या पुरातनपथी समझे। जिस लड़की को वह पसन्द करता है, मैं उसीका प्रस्ताव करने को तैयार हूँ।”

“स्वतंत्रता के लिए भी क्या तुमने ऐसा ही नहीं किया था?”

“तब शायद मेरे समझने में भूल रह गई थी। अक्सर उसके साथ देखा था। कितनी ही बार घर भी आई थी। इस उम्र में कोई यों ही तो घूमता नहीं। तुमसे भी तो मिलाया था। उस दिन तुम कितनी नाराज़ हुई थीं, पर मैंने तो उसे पूरी छूट दे रखी है। न भी दू तो वह लेगा। सभी लेते हैं। मैं उसे विद्रोही नहीं बनने देना चाहता। यों वेटे किसी न किसी समय विद्रोही होते ही हैं। ‘एंग्री यंगमैन’ वाला सिद्धान्त गलत नहीं है। मैंने भी तो ज़िद करके तुम्हें पसंद किया था।”

दीपा व्यंग्य से हंसी, “जी हां, पसंद किया था। किसी लड़की से मिलने का तुम्हारा पहला ही अवसर था। पहली ही बार में चित हो गए थे।”

प्रोफेसर भी हंसे और खुशामद के स्वर में बोले, “तुम थीं ही ऐसी। और अब भी तुम्हें कौन चवालिस वर्ष की बताएगा। ऐसी लगती हो...”

“अब रहने दो ठकुरमुहाती। मुझे सच बताओ, क्या यह शादी होगी?”

“मैं तो यही समझता हूँ और आज मैं उससे कहने वाला भी हूँ कि

वह भव शादी कर ले। मधुमिता हर तरह से योग्य है।”

“पर मैं उसे योग्य नहीं समझती।”

“उस दृष्टि से तो मैं भी नहीं समझता। पर देखो दीपा, अपने एक ही लडका है। सब प्रकार से योग्य है। ऊँचे पद पर है। शादी-विवाह हमारी रुचि से तो वह करेगा नहीं। वही करेगा जो वह चाहेगा। इसलिए तुम उससे कुछ मत कहना। मधुमिता से प्यार से बातें करना। उसड़ी-उगड़ी मत रहना।”

“मैं क्यों रहूँगी उसड़ी-उसड़ी? पर मैं जिस बात को अच्छा नहीं समझती, नहीं समझती। किसीकी खुशामद भी मुझमें नहीं होती। तुमसे होती है तो, करो। मैं माँ हूँ।”

सुभाष की धारों में एक अद्भुत चमक उभरी। धीरे से कहा, “अब जन्म-भर माँ बने रहने का युग बीत गया दीपू।”

दीपा महमा निविल हो गई। दीर्घ निःश्वास के साथ इतना ही कहा, “चाप से आती हूँ।”

प्रोफेसर क्षण-भर मौन दीपा को उल्टे घोर अन्दर की ओर जाते हुए देखते रहे। सोचते रहे—‘आदमी क्यों सहज भाव से अरमान संजोता चला जाता है? रुककर मोचता क्यों नहीं? किसी भी बात का एक ही पहलू तो नहीं होता।’

‘क्यों नहीं मानता कि...’ सहसा द्वार पर खटका हुआ। तुरन्त पुकार-कर उन्होंने कहा, “दीपा, वे आ गए, साथ-साथ ही चाप पिएंगे।”

दो क्षण बाद अन्दर से दीपा ने घोर नीचे से सुनील ने वहाँ प्रवेश किया। वह झकेला पा। एक क्षण प्रोफेसर ने किसी घोर के पदचाप की राह देखी। फिर पूछा, “मधुमिता कहा है?”

सुनील ने हठात् पिता की ओर देखकर कहा, “मधुमिता?”

“हां, वह तुम्हारे साथ आने वाली थी।”

“किसने कहा?”

सुभाष इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं थे। हतप्रभ-से दीपा की ओर

देतने लगे —मानो कहने लगे, 'अब तुम्हीं कुछ कहो न।' दीपा ते मीन रहकर उत्तर दिया—'अपने-आप ही न जाने क्या ताना-बाना बुनते रहते हो। अब भुगतो। बनाओ किनसे कहा है?' सहसा प्रोफेसर उधर से गरदन घुमाकर बोले, "बात यह है कि कुछ देर पहले मैंने तुम दोनों को साथ-साथ देखा था। सोना..."

सुनील ने एक बार विनृष्णा से जानूसी करने वाले अपने पिताजी को देखा। फिर मां से कहा, "मेरा सामान तैयार है?"

"हां।"

"तो मैं अभी जाऊंगा।"

वह अन्दर की ओर मुड़ा। प्रोफेसर स्नेह से बोले, "चाय भी नहीं पीओगे, बेटा?"

"मधुमिता के घर पी आया। मुझे अभी जाना है। कार से जाऊंगा।"

प्रोफेसर मुस्कराए। बोले, "मधुमिता भी साथ जा रही है?"

सुनील का अन्तर जैसे उबल उठेगा। लेकिन ऊपर से उसी तरह शान्त, पर प्लुत स्वर में उसने कहा, "जी....."

"देखो सुनील," प्रोफेसर ने उस ओर ध्यान दिए बिना प्रफुल्लित स्वर में कहा, "यह नहीं सोचा था कि मुझे ही सब कहना होगा। तुम सयाने हो। सब प्रकार से योग्य हो। अब तुम्हारी मां कहती है और मां ही क्या, मेरी भी इच्छा है....."

लेकिन वे वाक्य पूरा कर पाते कि उन्होंने पाया सुनील कमरे में नहीं है। दीपा उन्हें देखकर मुस्करा रही है। कौसी है यह दीपा, आजकल जैसी है ही नहीं। जीवन से असम्पृक्त, उदासीन, निस्संग—इसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। कछुए की तरह खोल में मुंह छिपाए रखती है। तभी सुनील ने वाहर आते हुए कहा, "अच्छा डैडी, मैं जा रहा हूं। पन्द्रह-बीस दिन लग सकते हैं। ममी, नमस्ते।"

"नमस्ते," उत्तर दिया प्रोफेसर ने। फिर कहा, "दीपा, चाय ले आओ। मैं जानता था...."

दीपा ने कहा, "चाय रखी है।"

"भोहो, बैठो।"

आधा प्याला समाप्त करने के बाद कुछ कहने को दृष्टि उठाई तो देखा दीपा बहा नहीं है। खीझ उठे, "कोई भी मेरी बात नहीं मुनता। समझते हैं जैसे मैं हू ही नहीं। और सच भी है, मैं हू ही कहा?"

सोचते-सोचते उठे और बाहर जहा दीपा खड़ी खिलीने बनते देख रही थी. वही जाकर बोले, "चाय नहीं पी?"

"पी तो रही हू," कहते-कहते दीपा ने हाथ का प्याला उनकी ओर बहा दिया। फिर कहा, "कितनी मेहनत करते हैं ये लोग। इन दिनों गाली देना और शराब पीना तक भूल जाते हैं।"

"हा दीपा, निर्माण का आनन्द ऐसा ही सर्वजयी होता है।"

"निर्माण का आनन्द।" दीपा फुसफुसाई और अन्दर की ओर मुड़ती हुई बोली, "दो दिन बाद सब कुछ बेचकर ये फिर शराब पीएंगे और मारपीट करेंगे।"

प्रोफेसर स्वभाव के अनुसार लम्बा भाषण देने के मूड में आने ही वाले थे कि नीचे से रेशमा ने पुकार लिया, "बहिन जी हैं क्या?"

और यह कहती-कहती हाथ पर बड़ी टोकरी सभाने वह ऊपर आ गई। बोली, "तो बहिन जी, दो-चार खिलीने ले आई हूँ। तुम्हें अच्छे लगते हैं न।"

प्रोफेसर और दीपा दोनों एक साथ टोकरी पर झुके, "अरे, इतने खिलीने। कितने के होंगे?"

"अए हए, जैसे मैं बेचने आई हूँ। दीवाली साल में एक बार ही आती है, प्रोफेसर साहब।"

"और एक बार ही तुम खिलीने बनाती हो।"

रेशमा फिर हसी, "तभी तो कहती हूँ, ये दीवाली की भेंट है।"

दीपा ने कहा, "हाय, ये छोटे खिलीने कितने सुन्दर हैं!"

प्रोफेसर बोले, "सच, जैसे अभी बोल उठेंगे।"

देखने लगे — मानो कहते हों, 'अब तुम्हीं कुछ कहो न।' दीपा ते मीन रहकर उत्तर दिया—'अपने-आप ही न जाने क्या ताना-बाना बुनते रहते हो। अब भुगतो। बतानो किसने कहा है?' सहसा प्रोफेसर उधर से गरदन घुमाकर बोले, "बात यह है कि कुछ देर पहले मैंने तुम दोनों को साथ-साथ देखा था। सोचा..."

सुनील ने एक धार विनृष्णा से जामूसी करने वाले अपने पिताजी को देखा। फिर मां से कहा, "मेरा सामान तैयार है?"

"हां।"

"तो मैं अभी जाऊंगा।"

वह अन्दर की ओर मुड़ा। प्रोफेसर स्नेह से बोले, "चाय भी नहीं पीओगे, बेटा?"

"मधुमिता के घर पी आया। मुझे अभी जाना है। कार से जाऊंगा।"

प्रोफेसर मुस्कराए। बोले, "मधुमिता भी साथ जा रही है?"

सुनील का अन्तर जैसे उबल उठेगा। लेकिन ऊपर से उसी तरह शान्त, पर प्लुत स्वर में उसने कहा, "जी....."

"देखो सुनील," प्रोफेसर ने उस ओर ध्यान दिए बिना प्रफुल्लित स्वर में कहा, "यह नहीं सोचा था कि मुझे ही सब कहना होगा। तुम सयाने हो। सब प्रकार से योग्य हो। अब तुम्हारी मां कहती है और मां ही क्या, मेरी भी इच्छा है....."

लेकिन वे वाक्य पूरा कर पाते कि उन्होंने पाया सुनील कमरे में नहीं है। दीपा उन्हें देखकर मुस्करा रही है। कैसी है यह दीपा, आजकल जैसी है ही नहीं। जीवन से असम्पृक्त, उदासीन, निस्संग—इसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता। कछुए की तरह खोल में मुंह छिपाए रखती है। तभी सुनील ने बाहर आते हुए कहा, "अच्छा डैडी, मैं जा रहा हूँ। पन्द्रह-बीस दिन लग सकते हैं। ममी, नमस्ते।"

"नमस्ते," उत्तर दिया प्रोफेसर ने। फिर कहा, "दीपा, चाय ले आओ। मैं जानता था..."

दीपा ने कहा, “बाद रती है।”

“ओहो, बँठी।”

आधा प्याला समाप्त करने के बाद कुछ कहने को दृष्टि उठाई तो देखा दीपा वहा नहीं है। खीझ उठे, “कोई भी मेरी बात नहीं सुनता। समझते हैं जैसे मैं हू ही नहीं। और सच भी है, मैं हू ही कहा?”

सोचते-सोचते उठे और बाहर जहाँ दीपा खड़ी खिलौने बनते देख रही थी. वही जाकर बोले, “चाय नहीं पी?”

“पी तो रही हूँ,” कहते-कहते दीपा ने हाथ का प्याला उनकी ओर बढ़ा दिया। फिर कहा, “कितनी मेहनत करते हैं ये लोग। इन दिनों गाली देना और धराब पीना तक भूल जाते हैं।”

“हा दीपा, निर्माण का आनन्द ऐसा ही सर्वजयी होता है।”

“निर्माण का आनन्द।” दीपा फुमफुसाई और अन्दर की घोर मुड़ती हुई बोली, “दो दिन बाद सब कुछ बेचकर ये फिर धराब पिएंगे और मारपीट करेंगे।”

प्रोफेसर स्वभाव के अनुगार लम्बा भाषण देने के मूड में आने ही वाले थे कि नीचे से रेगमा ने पुकार लिया, “बहिन जी हैं क्या?”

और यह कहती-कहती हाथ पर बड़ी टोकरी सभाले वह ऊपर आ गई। बोली, “लो बहिन जी, दो-चार खिलौने तो आई हूँ। तुम्हें अच्छे लगते हैं न।”

प्रोफेसर और दीपा दोनों एक साथ टोकरी पर झुके, “भरे, इतने खिलौने। कितने के होंगे?”

“भए हुए, जैसे मैं बेचने आई हूँ। दीवाली माल में एक बार ही आती है, प्रोफेसर साहब।”

“और एक बार ही तुम खिलौने बनाती हो।”

रेगमा फिर हसी, “तभी तो कहती हूँ, ये दीवाली की भेंट हैं।”

दीपा ने कहा, “हाय, ये छोटे खिलौने कितने सुन्दर हैं।”

प्रोफेसर बोले, “सच, जैसे अभी बोल उठेंगे।”

रेशमा फिर हँसी, “प्रोफेसर माह्व, ये बोल पड़े तो मुसीबत आ जाएगी। बिकने से इंकार कर देंगे और हमें भूखों मरना पड़ेगा।”

हठात् प्रोफेसर ने दीपा को देखा, फिर रेशमा को देखा। पाया कि वह नीचे उतरती जा रही है और दीपा एकटक उन खिलीनों को देख रही है। और उसकी आंखों से आंसू भर रहे हैं। प्रोफेसर ने प्यार से कहा, “आओ, अन्दर चलो।”

फिर चुपचाप दीपा के पीछे-पीछे टोकरी लेकर अन्दर आ गए। उसे रखते हुए बोले, “तुमसे मैंने कितनी बार कहा है कि तुम सोचना छोड़ दो। उसके जो जी में आए करे, हमें क्या? हम-तुम दोनों ठीक हैं। बस यही चाहिए। हमें उससे लेना भी क्या है? अब तो जमाना किसीपर निर्भर करने का रहा नहीं। मुसीबत पड़ने पर तुम स्वयं भी तो कमा सकती हो।”

दीपा ने धीरे से, पर अधिकार-भरे रंगे स्वर में कहा, “अब चुप भी करोगे? मैं उसकी क्यों चिन्ता करूंगी? चिन्ता उसे करनी चाहिए।”

प्रोफेसर खूब हँसे, “देखा तुमने अनपढ़ रेशमा अनजाने ही कितनी बड़ी बात कह गई। पर तुम उसे अब भी खिलौना ही समझती हो।”

दीपा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, “मैं तो कुछ भी नहीं समझती। जहां चाहे, जिससे चाहे, शादी करे। पर इतना अधिकार तो मुझे है कि मैं उसे अपने घर में आने दू या न आने दू।”

प्रोफेसर फिर हँसे, पर बोले कुछ नहीं। बैठक में जाकर पढ़ने लगे। फिर अंबेरा होने पर बाहर चले गए। जाते-जाते कहा, “दीपा, अभी एक घंटे में लौट आऊंगा। तुम खाना खा लेना। मेरी राह न देखना।”

दीपा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रतिदिन वह इसी तरह कहकर जाते हैं। प्रतिदिन वह देर तक खाना लिए बैठी रहती है। प्रतिदिन प्रोफेसर आकर कहते हैं, “अरे भाई, तुम सुनतीं क्यों नहीं? कहता हूँ, मेरी राह न बैठी रहा करो।”

मुस्कराकर धीरे से कहते हैं, “तुम्हें भी साथ खाना अच्छा लगता

हे, मुझे भी । दोनों मजबूर हैं ।”

फिर दोनों हम पढ़ते हैं । खा-पीकर कुछ देर पढ़ते हैं या बातें करते हैं । फिर लेट जाते हैं । अक्सर बातें करने का दौर एकतरफा रहता है । प्रोफेसर मानो क्लास-रूम में भाषण देते हैं और दीपा मुनते-मुनते सो जाती है । उस दिन भी सब काम उसी तरह हुए । पर दीपा भी जैसे उदास-उदास, खोई-खोई । लेटे-लेटे सहसा प्रोफेसर बोले, “सो रही हो ?”

“नहीं तो ।”

“मुनो, जब मैं रुस गया था तो मैंने कहा अपने एक मित्र से पूछा था कि क्या वे शादी-बिवाह में मा-बाप की राय बिलकुल नहीं लेते ?”

“तो ?”

“तो मित्र ने कहा था कि कोई बेबकूफ ही नहीं लेता । उन्हे पूरी स्वतंत्रता है, पर अनुभव तो मा-बाप का अधिक होता है । उस अनुभव से लाभ उठाना ही चाहिए ।”

दीपा ने इस बार तुरन्त उत्तर दिया, “यह मुझसे क्या कहते हो । तुम्हारे सोचने की बात है । तुम हर बात में उसीकी कहते हो ।”

प्रोफेसर ने करवट बदलकर दीपा का हाथ अपने हाथ में ले लिया । धीरे से कहा, “उसकी न कहू तो क्या उसे अपना दुश्मन बना लूं ? मैं तो उसे बताना चाहता हू कि मैं उतना ही प्रगतिशील हू जितना वह । और दीपा, अपने समय में हर व्यक्ति प्रगतिशील होता है । नानाजी ने १८७० में जब दिन के समय नानी का मुह देखने का दुस्साहस किया था तब क्या उन्होंने कम भ्रान्ति की थी । पिता ने नगा करके वेड से बाध दिया था और सहजता की कमची से खाल उतार ली थी ...”

लेकिन, उन्होंने पाया कि सुनने वाले की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई । वह भी बोझिल हो उठी । पुकारा, “दीपा ।”

लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला । बोले, “सो गई है । झच्छा ।”

फिर धीरे से दीपा की झीली-बोझिल दाह को उसकी छाती पर रख दिया और आंखें मीचकर सोने का प्रयत्न करने लगे, पर तीद नहीं

१०० मेरी प्रिय कहानियां

रेशमा फिर हंसी, "प्रोफेसर माहव, जाएगी। विकने से इंकार कर देंगे और हमें हठात् प्रोफेसर ने दीपा को देगा, फिर वह नीचे उतरती जा रही है और दीपा एकट है। और उसकी आंखों से आंशू भर रहे हैं। "आप्रो, अन्दर चले।"

फिर चुपचाप दीपा के पीछे-पीछे टोकरी रखते हुए बोले, "तुमसे मैंने कितनी वार का दो। उसके जो जी में आए करे, हमें क्या? यही चाहिए। हमें उससे लेना भी क्या है? निर्भर करने का रहा नहीं। मुसीबत पड़ने प सकती हो।"

दीपा ने धीरे से, पर अविकार-भरे एवंे स्वन करोगे? मैं उसकी क्यों चिन्ता करूंगी? चिन्ता

प्रोफेसर खूब हंसे, "देखा तुमने अनपढ़ रेशा बड़ी बात कह गई। पर तुम उसे अब भी खिलाती

दीपा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, "मैं तो कु जहां चाहे, जिससे चाहे, शादी करे। पर इतना अ मैं उसे अपने घर में आने दूं या न आने दूं।"

प्रोफेसर फिर हंसे, पर बोले कुछ नहीं। बैठक फिर अंधेरा होने पर बाहर चले गए। जाते-जाते क घंटे में लौट आऊंगा। तुम खाना खा लेना। मेरी रा

दीपा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। प्रतिदिन वह इ हैं। प्रतिदिन वह देर तक खाना लिए बैठी रहती है आकर कहते हैं, "अरे भाई, तुम सुनतीं क्यों नहीं? देखती न बैठी रहा करो।"

फिर मुस्कराकर धीरे से कहते हैं, "तुम्हें भी साथ

है। मंगल गीत गाए जा रहे हैं और वह हार पहने बहू की ठोडी ऊपर उठाकर देखती है—घाह क्या रूप है ! जैसे घरती में शोले उठने लगेंगे ! वह गद्गद होकर अपना हार उसके गले में डाल देती है और... और...

दीपा ने जोर से हिचकी ली। क्षण-भर बाद फिर कहा, "बहू ने उस हार को देखा। उसका चेहरा घृणा से बिरुप हो आया। उसे उतारकर उपेक्षा से उसने सुनील को थमा दिया, कहा, 'कितना पुराना डिजाइन है।'

"जैसे सागर की उमड़ती लहर को किसीने रोक दिया हो। किसी तरह मैं उसे अन्दर ले जाती हू। वह चारों ओर देखती है। सहसा उसकी दृष्टि रेशमा के सिनीनो पर पड़ती है और वह जैसे चीख उठती है, 'छिः, ये मिट्टी के कलाहीन खिलीने। लोग अभी भी पिछली सदी में रहते हैं।'

"और कहनी ही नहीं, उन्हें उठाकर एक कोने में फेंक देती है। मैं यह सब नहीं सह सकती। चीख उठती हू... तभी आस खुल जाती है, देगती हू, कहीं कुछ नहीं है। सब सपना है। पर मैं जानती हू कि यही सच है। सपने में आने वाली बातें सच होती हैं।"

"होती हैं तो इसमें दुखी होने की क्या बात है? सपना ठीक ही तो है। तुम समझती क्यों नहीं? कुछ दकियानूसी लोगों को छोड़कर अब कौन सोने के भारी-भारी हार पहनता है? अब तो तरह-तरह के कलापूर्ण पत्थर आते हैं और रेशमा के खिलीनों में भी कहीं कला है? वह तो दूर से देखने के हैं। पास से देखो तो न रंगों का मेल, न अंगों का सौन्दर्य।"

दीपा ने कहा, "तुम तो यही कहोगे। पास में देखने पर तो सभी बद-रंग दिखाई देते हैं।"

प्रोफेसर ने जैसे मुनाही नहीं। एक क्षण निस्संग भाव से कहा, "मुझे ऐसा लगता है कि सुनील मधुमिता से विवाह निश्चित करके ही आया। तुम उससे कुछ भी मत कहना। समझी। मन में यही बात रचा लो, तब न सपने आएं और न रोना। दुख-सुख तो मानने के हैं। तुम्हें कैसे समझाऊ कि तुम्हारा दुख-सुख मेरे साथ बधा है। बाकी रही दुनिया की बात, वह जितना हमें मानेगी उतना ही हम..."

दीपा ने गहककर कहा, "मुनील दुनिया में है?"

"आजकल अपने आपके घरवाला सभी दुनिया में है।"

"तो फिर तुम क्यों उसके मन की कल्पना को आवृत्त करते हो?"

"क्योंकि मैं जानना हूँ कि वह ठीक है। यह दूसरी बात है कि मुझे भी उसकी बातें अच्छी नहीं लगती। पर है वही ठीक। हमारी हड्डियाँ पक गई हैं। नये सच को भेज नहीं पाती।"

"सच भी नया-पुराना होता है?"

इस स्थापना पर प्रोफेसर घंटों बोल सकते हैं। उस रात भी न जाने कब तक बोलते रहे। दीपा मो गई, वे भी सो गए, पर नये सच की कड़वी-मोठी धनियाँ उनकी गृहस्थी में गूँजती रहीं। एक दिन घर लौटे तो बड़े उद्विग्न थे। बिना कपड़े उतारे दीपा के पास आए और गम्भीर स्वर में बोले, "मुनील कब आ रहा है?"

"अब मुझे पूछते हो? वह क्या आने-जाने की सूचना देता है?"

"दिन तो बीस-इक्कीस हो गए।"

"हो तो गए। पर, बात क्या है?"

"प्राज मधुमिता को देखा था।"

"मधुमिता को?"

"हां।"

"तो?"

"बस यही तो तुम्हारी बुद्धि है। दोनों साव ही तो गए थे। मधुमिता उसे छोड़कर कैसे आ गई?"

"मुझे क्या पता। उसीसे पूछा होता।"

"मैं उससे पूछता?"

"क्यों, उसे जब वहाँ बनाकर घर ला रहे हो तो पूछने में क्या है?"

"तुम व्यंग्य-वाण बरसा रही हो और मैं परेशान हूँ। आखिर वह..."

"वह..."

“यब उमको भी नहीं जानती । धात्रिण मुनीन कितसे शादी करेगा ।”

दीपा हंस पड़ी, “मुझसे कहते हो कि मेरी रग-रग में यही बानरच गई है और आप एक समझे को भी उमके बारे में बिना सोचे नहीं रह पाते ।”

“तुम तो बस...चाय है ?”

“है, अभी खाती हूँ ।”

चाय पर दोनों फिर कई क्षण मौन बँटे रहे । कोई प्रसंग निकालकर दीपा ने कहा, “आप उसकी चिन्ता क्यों करते हैं ? नहीं मानना तो करे जो उनके मन में हो ।”

प्रोफेसर एकदम तड़प उठे, “यह तुम कहती हो ।”

दीपा कुछ उत्तर देती कि डाकिया डाक दे गया । एक लिफाफे पर हस्ताक्षर पहचानकर प्रोफेसर ने तुरन्त उसे फाड़ डाला और पत्र निकालकर पढ़ने लगे । दो क्षण बीतने में बीतते वह जंगे पागल हो उठे हों । बिट्टी की बुरी तरह मूट्टी में भींच लिया । नपने फड़कने लगे । त्रड-वम्पित स्वर में चीगकर कहा, “गुस्ताग, बदलभोज, वह अपने को समझता क्या है ? मैं हरगिज-हरगिज यह नहीं होने दूँगा । मैं...मैं -”

मुह में भाग निकलने लगे । दीपा पबराबर दौरी हुई धाई; बोली, “क्या हुआ ? किसकी बिट्टी है ?”

पर वह मूट्टी गोलने में सफल न हो सकी । किसी तरह उसको दोनों बाँहों में भरना चाहा, पर से तो रोद रूप ही उठे थे । जोर में भटका दिया । कुर्सी के सात झारी । सामने जो दो गुम्हर गिलोने रंग थे, उन्हें जोर से खमीन पर फेंक दिया, “मैं...मैं... मेरा इतना धरमान ! दखनी देहरदवी ! मैंने...”

“कुछ बलाघोरे भी । किसने बिना धरमान ? किसकी बिट्टी है ?”

“होनी किसकी ? जमी नालादक-मुस्ताग वो है ।”

“मुनीन वो ?”

भी उर

पक गः

“

ए

कव तव

मीठी धः

उद्विग्नः

“सुनीलः

“अः

“दिः

“हो तः

“प्राज

“मधुमि.

“हां।”

“तो ?”

“वस यही तः

उसे छोड़कर कैसे :

“म

पान । लो पड लो ।”

दीपा ने पडा—

“ मेरे प्यारे बेटे ।

“ घाशा है तुम सज्जन पट्टय गए हो । बड़ी मृषी हुई कि घागिर तुम्हें योगी मिन गया । शादी का कौन मा दिन निश्चय हुआ, यह लौटती टाक मे लियो । तुम्हारी मां और मैं दोनों तुम्हें और वह स्वयंजाना को बहुत-बहुत घाशीर्वाद भेजने हैं । दोनों खुश रहो । गुरल्ल धिय भेजना । तार से उत्तर देना । तुम्हारी मां बड़ी उवाकती मे राह देस रही है । तुम दोनों को हम दोनों का डेर-डेर प्यार ।

तुम्हारा पिता
मुभाप ”

“हां, मैं उससे कोई संबंध नहीं रखूंगा। उसने समझा क्या है? इतनी नटकियों को भांसा दिया। यह धरोपों के काम है?”

“कुछ बताओगे भी, हुआ क्या?”

“होता क्या? तुम्हारे साहबजादे ने लिया है कि छह महीने की छुट्टी लेकर वह रुग जा रहा है। वहां वह स्वेनलाना नाम की किसी लड़की से शादी करेगा। पिछले वर्ष वही उससे परिचय हुआ था। तब से वह बार-बार उसे बुला रही थी। अब जाकर बीसा मिला है। और हमारे साहबजादे कल शादी करने जा रहे हैं। यहां नहीं आ सकेंगे। क्षमा मांगी है। अहा! किसी नादगी से आपने सब कुछ लिया है। मैं पूछता हूं—क्या जरूरत थी मुझे पत्र लिखने की?”

तब तक दीपा उनसे चिट्ठी ले लेने में सफल हो गई थी। पढ़ते-पढ़ते उसे लगा जैसे उसका दिल डूब चला है। शरीर को लकवा मारता जा रहा है। परन्तु जब पढ़ चुकी तो सहज विश्वास से दृष्टि उठाकर पति की ओर देखा। बोली, “सुनो।”

“क्या सुनूं? उसने यह निश्चय कर लिया है कि जो मैं कहूंगा वह उसे नहीं मानेगा।”

“सुनो भी। अब प्रोध करने से कोई लाभ है? बात साफ हो गई है। चलो छुट्टी हुई। न अब घाशा रखेंगे, न दुख होगा।”

और आगे बोलने में असमर्थ वह चिट्ठी वहीं रखकर सीधे अपने कमरे में चली गई। प्रोफेसर ने “मैं...मैं...” करते-करते अचकचाकर पत्नी की ओर देखा, फिर जैसे परिस्थिति समझकर लांछित-लज्जित वहीं कुर्सी पर बैठ गए। उसके बाद किसीने किसीसे कुछ नहीं कहा। उस रात खाना-पीना भी नहीं हुआ। प्रोफेसर देर तक खिलौनों के टुकड़े बीनते रहे। बीन चुके तो बैठकर पत्र लिखने लगे। दीपा सहसा बीच में उठकर आई, “सुनो ल को लिख रहे हो? देखो, कुछ ऐसी-वैसी बात न लिख देना। खून में उसके भी गरमी है। बस आशीर्वाद लिखना।”

“मैं उससे हार मानने वाला नहीं हूं। वह डाल-डाल तो मैं पात-

पान । गो दट सो ।”

दीपा ने पडा—

“मेरे ध्यारे बेटे ।

“घाशा है मुम महुनन पहुंन गप् हो । बरो मुसी दुई कि घामिन मुम्ने
वीगा मिन गया । घादी बा बीन मा दिन निस्वित हुमा, यह लीटपी शक
मे निम्नो । तुम्हारी मां घोर में दीनों मुम्ने घोर बटु स्पेत्ताना बो बटु-
बहुन घाशीर्षाट भेजने है । दोनों मुन गहो । नूरल बित्र भेजना । गार मे
उत्तर देना । मुम्हारी मा बड़ी उजाबरी मे राह देग रही है । मुम दोनों को
हम दोनों का डेर-डेर ध्यार ।

मुम्हारा पिता
मुभाव ”

फासिसल, इन्सान और...

साठ वर्ष की आयु में भी विनोदगंकर को अधिक से अधिक पैंतीस-चालीस का कहा जा सकता है। चेहरा वंसा ही सुचिक्कण-रक्तम, आंखें वंसी ही भावाकुल और मुस्कान वंसी ही मनोहारी, पर आज उदास-उदास वह करवटें बदल रहा है। नींद उसे कभी अधिक नहीं आती। चार वजते न वजते तारों-भरा आकाश उसके मस्तिष्क पर उभर आता है। अभी भी सामने के द्वार से उसका सदा का मित्र शुक्र तारा उसे पुकार रहा है, 'आओ भई, छह वज रहे हैं। एक घण्टे से राह देख रहा हूँ। आज क्या वायु-सेवन को नहीं चलोगे !'

शुक्र के पास ही, नीम के पेड़ के ऊपर से उठता हुआ, अमा से दो दिन पूर्व का चन्दा कुछ ऐसा लग रहा है, जैसे बच्चे को बहकाने के लिए किसी मां ने खरबूजे की पतली फांक काटी हो। और बच्चे ने मचलकर उसे फेंक दिया हो। कहीं वह बच्चा वह स्वयं ही तो नहीं है !...

यह विचार आते ही, उसके शरीर में भुरभुरी-सी उठी। करवट बदलकर उसने चाहा कि दरारों से भाँकते हुए सुनहले दिन की ओर से ह आंखें मूंद ले। पर जैसे ही पलक भपकती है रात के सारे चित्र एक-एक रके उसके वक्ष पर उँकर आते हैं। चित्र कम नहीं हैं, पर चित्रों से भी डी उनकी वेदना है। उस वेदना के कारण ही उसकी स्वाभाविक प्रफु-

स्तता जैसे ठिठकड़ा गई हो। वही वेदना-बोव सौ-सौ मूल बनकर उमके अन्तर को छेदे जा रहा है। पीछे के कमरों से उठती उसके बच्चों की चूहलमाजी भी उसे मुखरित नहीं कर पा रही है।

रात 'नव कला निकेतन' में उसका सम्मान हुआ था। एक प्रदर्शनी का आयोजन भी था, जिसमें उसके अभिनय-काल के सभी चित्र प्रदर्शित किए गए थे। राधेश्याम कथावाचक, बंताब, व्याकुल, आगा हथ आदि सभी नाटककारों के नाटकों में उसने अभिनय किया था। दूर-दूर तक उसकी प्रसिद्धि थी। उसका नाम मुनकर कहा-कहा के लोग अभिनय देखने आते और रात-रात-भर बैठकर देखते। बीररस का नाटक होता, तो दर्शकों के शरीर में बीरता जैसे बाध तोड़कर उमड पड़ती। करण रस का नाटक देखकर दर्शक सिसकिया भरते। शृंगार रस के नाटकों में युवकों और युवतियों, दोनों का अभिनय वह एक-सी सफलता से करता। उसके शरीर की गठन, उसका रक्तिम गौर वर्ण, उसके धग-धग का सौंदर्य सभी कुछ ऐसा था कि साहित्य-पुज युवक का अभिनय करते समय उसके भुजबन्ध फड़क उठते। रूप के सम्भार-भी मुबती का अभिनय करता, तो वे ही धग किसलय-कोमल हो आते और आँखों से मद भरा-भरा पड़ता। ताण्डव और तारय सभी रूपों के चित्र, सभी स्वर्णिम मेडल और ताजमन, जो उमने पाए थे, उस प्रदर्शनी में प्रदर्शित किए गए थे।

कितने गर्व से रात उमने अपने अभिनय के सभी रूपों का प्रदर्शन दिया था। तब कितना उल्लास था उसकी आँखों में। क्यों न होता, यह अभिनय उनके व्यक्तित्व का एक धंग ही तो बन चुका है। परन्तु दर्शकों को क्या हो गया है! वह किसी और समय में तो नहीं मटक गया, जहाँ न कोई उनकी भाषा समझता है, न भावामिव्यक्ति को ग्रहण करता है। जैसे वे सभी मनुष्येतर जानि के हो, जो उसके प्रत्येक रंग और प्रत्येक भाव के प्रदर्शन पर समान और मुक्त रूप से हँसे जा रहे हैं। सम्पूर्ण दर्शक-प्रकोष्ठ के भूबन्ध मरोगे एक सम्मिलित टहाके से घरती जैसे बार-बार बाप-बाप उठती है। वह अपने भावामिनद में शिउनी भी प्राण-नाक्ति भरने

तारों-से दमक रहे हैं।

एकाएक मुग्धा रागिनी मूक मन बोल उठी, "मम पापा, रात का घादवा अभिनय प्रदर्शन 'गुरुब' था। मैं तो सोच भी नहीं मन्गी थी कि उस बाल के बन्दावार दमने 'पावरफुल' थे। मेरी धीमिग के लिए रात रतना मेटर बिना कि क्या कहूँ !"

घन्तर ने पलकित विनोदकर ने बचकचाकर कहा, "धीमिग !"

उत्तर दिया भवभूति ने, "हां पापा, यह रागिनी डॉक्टरेट के लिए 'धीमिग' निग रही है। विगम है, 'हिन्दी रगमन का विकास'।"

"घोर पापा ! रात यह विगम मेरे सामने मूर्त हो उठा। मर्ये ही रोग कहते हैं कि हमारे मश रगमन घोर अभिनय की परम्परा नहीं है।"

तब तक उनकी लड़ाक्या गुधीरा घोर सोमा, यदा लहरा बानिदाग घोर उसकी पत्नी रत्ना घोर छोटे बच्चे सभी उनके कमरे में था चुके थे। उनका मस्तिष्क मय में ऊंचा होना आ रहा था। नेत्रों की भाषाकृतता दीप्त हो रही थी। कुछ राण पूर्व की घग्गन-घगाध उदासीना को जैसे विगीने पीत दिया हो, यह निर्रोहित हो चुकी थी। वे मय भी गीन थे परन्तु जैसे मान से रुठे हो। छोटी लहरी गोमा ने कहा, "पापा, यह माभी कह रही थीं..."

घोर रागिनी की घोर देवकर मुकराई, "बढ़ दूँ माभी !"

उन्होंने घनायास पहने सोमा घोर फिर रागिनी की घोर देगा। मय-भूति हूमकर बोला, "पापा, यह कहती थी कि पापा की 'पर्मनेलिटी' बड़ी है।"

ही।"

रागिनी ने सहज मन कहा, "तब हीनी तो जरूर कर लेती।"

"जी हाँ, जरूर कर लेती।"

"क्यों न कर लेती ? तुमसे तो लाख बार गुन्दर सगते हैं।"

भयभूति तनिक भी अप्रतिभ नहीं हुआ, बोला, "जैसे तब आप भी आज जैसी होती। छुट्टी-मुट्टी गुड़िया-सी घर के किसी कोने में छिपी होतीं। तब की नारी में इतना माहम कहाँ था कि पुरुष से नज़र मिला सके। और कहीं गलती से मिल भी जानी तो बस उगका तो मरण ही हो जाता। उस ज़माने में लड़की के मंच पर माने की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। नहीं नो..."

एकाएक पीछे से सरला का स्वर सुनकर सब सकपका गए। क्रुद्ध-कम्पित वह कह उठी थीं, "घर्म नहीं आती तुम लोगों को, कौसी बातें कर रहे हो। बड़े-छोटे का कोई लिहाज ही नहीं रह गया।"

अब तक जो मौन थे, वही विनोदशंकर एकाएक 'हो-हो' करके जोर-से हंस पड़े। कई क्षण हंसते रहे। खीझ से भरी पत्नी जब चली गई तो बोले, "जानते हो एक बार तुम्हारी इस मम्मी ने क्या कहा था! कहा था, 'हाय, तुम इतने सुन्दर क्यों लगते हो, मुझे डर लगता है।' मैं बोला, 'कौसा डर! कोई भगा ले जाएगा!' तब इसने सचमुच गम्भीर होकर कहा था, 'और नहीं क्या तुम समझने हो कि पुरुष ही स्त्री को भगाते हैं। सुन्दर और बलवान पुरुष के पीछे स्त्री क्या नहीं कर गुजरती।'"

फिर सहसा दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "आज का ज़माना होता तो शायद..."

जैसे कुछ अनकहनी कह गए हों। हतप्रभ जीभ काटकर सबकी ओर देखा, सभी नतदृष्टि शरारत से मुस्करा रहे थे। उन्होंने हंसकर कहा, "कुछ भी हो, वह समय सचमुच बहुत अच्छा था। आज की-सी सुविधाएं नहीं थीं। दिन-रात चिंचियाते यन्त्र नहीं थे। स्वर और स्वरूप पर ही सबकुछ निर्भर था। सिनेमा में न जाने कितनी बार एक दृश्य का अभिनय होता, जो श्रेष्ठ बन पड़ता है, उसीको वे यन्त्रस्थ कर लेते हैं, पर मंच पर बार ही वह अबसर मिलता है। कितनी साधना करनी पड़ती थी तब, न उस साधना की कीमत भी मिलती थी। दूर-दूर से आकर लोग

रात-रात-भर नाटक देखते थे। कई-कई दिन तक देखते थे। दिल छील-कर प्रशंसा करते थे...”

वह बोलते रहे और रागिनी तत्परता से लिखती रही। एक-एक शब्द को पीती रही। जब उनकी दृष्टि उसकी ओर गई, तो प्रवाह में जैसे उन्माद भर उठा। वह सब कुछ भूल गए। यह पूछना तक भूल गए कि वह किमीको 'बोर' तो नहीं कर रहे। उनके नयनों में तो वह युग जैसे मूर्त हो उठा था। कैसे नाटक लिखे जाते थे, कैसे उन्होंने समाज-सुधार में योग दिया, कैसे राष्ट्रीयता की ज्योति जगाई, फिर कैसे सिनेमा ने एक दिन चुपके से आकर इस कला का गंगा घोंट दिया। सरकार बेश्यामों की कम्पनी बनाकर जो काम न कर सकी, वह विज्ञान ने क्षण भर में कर दिखाया।...

उनके बोलने का वही अन्त नहीं आ रहा था। इस क्षण लगता कि अब जैसे समाप्त करेंगे, पर वही से एक नया स्रोत फूट पड़ता। उन्होंने उस काल के नाटको की, मंच की, अभिनय की तात्त्विक, सामाजिक, मनो-वैज्ञानिक सभी दृष्टियों से विवेचना की, इस विश्वास के साथ ही कि उनसे बढ़कर इस कला का पारखी कोई नहीं है। आज के छोकरे कला को क्या जानें! आदेश में आकर वह बोले, “सिनेमा और नो सिनेमा, रेडियो और नो रेडियो, टेलीविजन और नो टेलीविजन, थियेटर विल नोट डाई, नो, इट विल नेवर डाई।”

वह हिन्दी के पक्षपाती हैं। इस सीमा तक कि उन्हें मदाग्व कहा जा सकता है। परन्तु आदेश में आकर जब वह भाषण करना शुरू करते हैं, तो जिस बात पर वह विशेष प्रभाव डालना चाहते हैं, उसे अंग्रेजी में बोलते हैं।

उन्हें विराम की तनिक भी चिन्ता नहीं थी, परन्तु तभी सहसा उनकी पत्नी सरला का स्वर उनके कानों में गूँज उठा। पास धानी हुई वह बोली, “बया पुराण-गाथा ले बैठे हो, बोलना शुरू करते हो तो जैसे नशा चढ़ जाता है।”

फिर रागिनि की ओर देखकर बहा, “उठ बहू, कब से वे सब बैठे रह

११४ मेरी प्रिय कहानियां

देख रहे हैं। चाय ठण्डी हो रही है।”

जैसे वह अचानक ही एक समय से दूसरे समय में आ पहुँचे हों। हत-प्रभ हो उन्होंने देखा, वहाँ बस केवल रागिनी है, जो अब लिराना छोड़कर अपनी सास की ओर देखा रही है। उसकी दृष्टि में तृप्ति मुखर है। कह रही है, “ममी, मैं जो काम एक वर्ष में न कर पाती, वह पापा ने कुछ क्षणों में करवा दिया है।”

सरला बोनी, “अरे, तो यह कोई भागे थोड़े ही जाते हैं। इन्हें तो कोई तेरे जैसा भवत-श्रोता मिले, तो चौबीसों घण्टे बोलते रहेंगे। तू उठ, चल।”

फिर पति की ओर देखकर कहा, “तुम भी वहीं आ जाओ न! भाग्य से आज सभी इकट्ठे हुए हैं। गरम-गरम कचोड़ियाँ और जलेबियाँ मंगवाई हैं। रसगुल्ले भी हैं।”

पर वह तो जैसे अब वहाँ थे ही नहीं। वह इतनी देर बोलते रहे और सुनने के लिए केवल रागिनी ही वहाँ रुकी रही। उसे ‘थीसिस’ जो लिखना था। उनका सब उत्साह एक क्षण में चुक गया। निमिषमात्र में अमृत जैसे जहर हो उठा। अनमने-से बोले, “तुम चलो, मैं आता हूँ।”

लेकिन वे दोनों तो पहले ही चली गई थीं। न जाने क्या हुआ, चुम्बक की भाँति वह भी पीछे-पीछे खिंचे चले गए। अभी द्वार से इधर ही थे कि कहकहाँ की गूँज से उनका मस्तिष्क भर आया। उन्होंने सुना। उनका लाड़ला बेटा भवभूति कह रहा है, “पापा तो अब म्यूजियम की वस्तु हैं। पर आज इस रागिनी ने उन्हें जगा दिया।”

रागिनी हंसते-हंसते बोली, “म्यूजियम ज्ञान का भण्डार होते हैं। वहाँ से जो ज्ञान प्राप्त होता है वही तो सर्वोत्तम है। मेरी ‘थीसिस’ में प्राण पड़ गए हैं।”

आधा घण्टे तक राह देखने पर भी जब विनोदशंकर वहाँ नहीं पहुँते तो सरला फिर उनको देखने आती है। पाती है कि पैरों पर लिहाफ ले छत पर दृष्टि जमाए बैठे हैं। उस पीड़ित और क्लान्त दृष्टि में ऐसा

कुछ है कि वह सह नहीं पाती है। उससे भरती वेदना उसके हृदय के सातों पातालों को छेदती चली जाती है। और उसका सारा क्रोध तरल हो रहता है। पास आकर खड़ी बड़े प्रेम से उनके कंधे पर हाथ रखकर कहती है, "क्या बात है?"

विमूढ़-से विनोदशकर दृष्टि छत से हटाकर पत्नी के मुख पर जमा देते हैं। वह कापती है और वह जैसे कही गह्वर में से बोलते हैं, "बैठो सरला!"

"चाय नहीं पियोगे?"

वह हसते हैं, "क्यों नहीं पियूगा? पर उनके बीच में क्या अच्छा लगूगा!"

सरला सहस्र बटोरकर कहती हैं, "क्यों, वे क्या मजनबी हैं। अपने ही बाल-बच्चे हैं और भगवान की कृपा से सभी..."

"हां, सरला मैं भी जानता हूँ वे अपने ही बच्चे हैं। प्रतिभाशाली भी हैं? ऊँचे-ऊँचे पदों पर हैं। मुझे उनपर गर्व भी है।..."

और फिर छत पर दृष्टि गड़ाकर बोले, "मोती सीप के गर्भ से जन्म लेते हैं परन्तु...जाने दो, हम इंसान हैं, केवल हाड़-मांस के पुतले नहीं। तुम चाय मही भेज दो।"

अभाव

ज्यों-ज्यों प्रोफेसर वर्मा की तृष्णा बढ़ती त्यों-त्यों अभाव की रेखा भी गहरी होती। रसवादी प्रोफेसर श्रीर रस-सागर के बीच एक अभेद्य दीवार थी, जिसके पार वे रस के लहराने समुद्र को देख तो सकते थे, पर उस तक पहुंचना असंभव था। इसी कारण अनजाने ही एक नई प्रवृत्ति उनके भीतर जन्म ले रही थी—वे पास-पड़ोस के तथा सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का सूक्ष्म अध्ययन करने लगे थे। हर आदमी के साथ सुख-दुःख लगा रहता है परन्तु जैसे ही वे किसीके दुःख को खोज निकालते, उनका हृदय अनायास ही उल्लास से भर उठता। परन्तु दुनिया तो त्रिचित्र है। कभी-कभी ऐसा होता कि प्रोफेसर किसी व्यक्ति में जरा-सा भी दुःख न ढूँढ़ पाते। तब उसको हंसते देखकर उनकी छाती में हूक उठने लगतीं और वे दीर्घ निःश्वास खींचकर कहते, “आह! कितना सुखी मनुष्य है?”

वात यह है कि अभी-अभी उनके पड़ोस में एक नया परिवार आ बसा है। केवल दो प्राणी, पति और पत्नी। दोनों सुन्दर, सुसंस्कृत और मधुर-भाषी। सदा हंसते रहते और जब किसीसे बोलते, तो दादी की कहानी की जकुमारी की तरह मुख से फूल भरते। देखते-देखते वे पड़ोस की चर्चा पय बन गए। हर एक गोष्ठी में, चाहे वह पुरुष-वर्ग की हो अथवा -वर्ग की, उनकी सज्जनता, विनम्रता और विद्वत्ता की चर्चा बड़ी श्रद्धा

से की जाने लगी और सबको उनके मुली जीवन से ईर्ष्या हो आई। स्त्रियों की सभा में उनकी पत्नी की विशेष सराहना की जाती। युवतिया कहती—
“कैसी सुन्दर है; गोंरा-मोरा रंग, सुघ्रा-सी नाक, काली-कजरारी आँखें और स्वस्थ सुडौल शरीर। जी करता है, बँटे-बँटे देखा करें। और हमेशा हसती ही रहे है।”

“हा बहिन ! हमेशा हसती ही रहे है जैसे फूल झरने हो और बोली कितनी मीठी है। जाते-जाते पूछ लेगी, ‘कहो बहिन ! क्या बना रही हो ?’ ‘भजी बहिन जी, हमें भी दिखा दो क्या बुन रही हो !’ ‘ओहो, बड़ा सुन्दर हाथ है तुम्हारा।’—ऐसे ही सबका मन बढ़ाती रहे है।”

“ओर बहिन ! एक बार पूछो तो दम धार बतावे है। फिर-फिरकर समझावे है। इस तरह बतावे है कि बस मन में उतरता चला जा है। उस-पर सिपत यह है कि ज्यादा बात भी नहीं करे।”

एकसाथ कई युवतियाँ उनकी हाँ में हाँ मिलाती। एक कहती, “सो तो है ही बहिन।”

दूसरी बोलती, “हा जी ! बड़ी भली है, परमात्मा उसे सुखी रखे।”

तीसरी कहती, “जी करे है बहिन कि मदा उसके माथ रूह।”

इसपर एक कहकहा लगना। कोई मन बली कह उठती, “दुर पगली ! उसका मालिक क्या तेरी जान को रोवेगा ?”

जब हसी रुकती तो बूढ़ी दादी बोल उठती, “बहू, मुझे तो उसकी एक वान घटी प्यारी लगे है।”

“क्या जी ?”

“बस हमेशा काम करती रहे है और सब काम करे है। नहीं तो नये पमाने की लुगाई क्या ऐसी हाँ है। बाजार जा है, मगर क्या मजान जो कभी पता घाटे। मोघो जा है और सोदा लेकर लौट आये है। घर में बुहारी-भाडू, चौका-वानन सब घाप करे। बाने भी है। कहवे थी—
‘माँजी ! कितना मुझे बड़ा प्यारा लगे है। घर-घरं में तो जेन भगवान गावे है। मोहिनी-भी छा आवे है।’ सबको भी पीसे है।”

वह ने अचरज में कहा, "जी, गया मन !"

"धीरे गया झूठ कहूँ हूँ ! तेरी तरह ना है। दो हरफ पढ़े और मेमसाव भेज पर जा सोई। और उने क्या कम गुण है। मालिक पलकों पर रमे है। दोनों जून दोनों जने ह्यालोरी को जा है जंमे सीना-राम की जोड़ी हो।"

दूनरी बहू कहती, "पर माजी, एक वान है; अभी उसकी गोद सूनी है। उमर तो उसकी काफी हो गई।"

मांजी जवाब देती, "बहू, देगने में तो लौडिया-सी लगे है। दिन घाएंगे तो गोद भी भरेगी। आजकल बच्चे जरा बड़ी उमर में हो हैं।"

एग तरह जहां भी दो औरतें मिलती, घर में, मेले-डेले में, हाट-बाजार में, शादी-गमी में, वहीं उनकी चर्चा आपसे-आप अनजाने ही चल पड़ती। प्रोफेसर वर्मा की पत्नी भी सब बातें गुनती है। वह स्वयं उसकी बड़ी प्रशंसक है क्योंकि अपनी आंखों में अपनी छत से सब कुछ देखती है। उनकी छत से छत मिलती है। जब प्रोफेसर की पत्नी ऊपर आती, तो कभी-कभी पड़ोसिन से दो बातें कर लेती। पर अभी वे बातें बहुत आगे नहीं बढ़ी हैं। एक तो प्रोफेसर की पत्नी बातें कम करती है और करती है तो साधारण औरतों की बातों में उसे ज्यादा दिलचस्पी नहीं है। लड़ाई है, लड़ाई की वजह से जीना दूभर हो गया है। महंगाई बढ़ रही है, और महंगाई छोड़िए, पैसा है पर चीज नहीं है। खरीज का न जाने क्या हुआ ? दियासलाई, मिट्टी का तेल, चीनी, मसाले, इन सबके अभाव में गिरस्ती बस जंजाल बन गई है।

पड़ोसिन मुस्कराकर कहती, "वहिन ! यह तो जीवन का एक रस है। अभाव न हो तो भाव को कौन पूछे। अपनी असलियत का पता आदमी को ऐसे ही चलता है।"

प्रोफेसर की पत्नी भी अनायास मुस्करा उठती, "सो तो तुम ठीक होती हो वहिन, पर जी को दुःख तो होता ही है।"

"दुःख तो वहिन मानने का है। मानो तो दुःख का अन्त नहीं है और जाने तो मौत भी सुखदायी है।"

घोर फिर प्रोफेसर की पत्नी की ओर देखती और हंसकर कहती, "पर बहिन, दुनिया में रहकर इस मानता से कौन बचा है? वे कहते थे कि दुःख सभीको होता है। पर हां, दुःख को दुःख मानकर भी जो उसे सहने की शक्ति रखते हैं उनके लिए दुःख भी मुक्त हो जाता है।"

प्रोफेसर की पत्नी उसके पति की विद्वत्तापूर्ण युक्ति का क्या जवाब देती और बात एकदम रुक जाती। कभी बेबी रो उठनी, कभी प्रोफेसर पुकार लेते। प्रोफेसर को यह सब पगद नहीं है। पत्नी जब-जब उसकी प्रशंसा करती, वे धनमने-से हो उठते। कभी-कभी तो चिनचिना पड़ते, 'छोड़ो जी उनकी बातें, बनती है।' पर पत्नी को ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई पड़ती। फिर भी वह सोचा करती—शायद ये सच कहते हैं, बरना कोई इतना खुश कैसे रह सकता है। मैं उससे मेल बढ़ाऊंगी तब उसकी प्रगतिपत्र का पता चलेगा।

मेल बढ़ाने का एक मौका अवानक दूसरे ही दिन आ गया। यद्यपि उसका आरम्भ दुःखमय था, पर इतीलिए वह स्थायी था। बात यह है कि मां की तरह बेबी भी अचानक मुँह पर चढ़कर उनके घर में आका करती है। ठीक मुँह पर पीपल के दरस्त की कुछ शाखाएँ भुंक भाई हैं। अक्सर वह उन्हें तोड़ने लगती है। उस दिन वह जैसे ही उन्हें तोड़ने को उठी, पैर रपट गया और वह घम्म से नीचे आ गिरी। चीख निकल गई। प्रोफेसर को पत्नी नीचे घी, हड़बड़ाकर दौड़ी। देखा—बेबी बुरी तरह रो रही है और उसका चेहरा खून से भरा है। उसका दिन धक् से रह गया, "हाय! यह क्या हुआ। बेबी, बेबी!"

बेबी धीरे-धीरे संज्ञा खोने लगी और उसे संभालती-संभालती मां खुद पागल हो चली, पर ठीक इसी समय मुँह के पीछे एक मुस्कराता हुआ

बवा उसका गाँद म था। रुई स माथ का रक्त पाछता-पाछता वह वाली,
"जल्दी से दूध हो तो ले आओ। न हो तो निरी बाण्डी ही दे दूंगी।"

प्रोफेसर की पत्नी ने कृतज्ञ होकर कहा, "दूध है, अभी लाती हूँ।"

"और चम्मच भी।"

"जी।"

पत्नी गई और वह गून पोंछती रही। माथे पर दाहिनी ओर गहरा घाव बन गया है। उसे 'डीटॉन' ने साफ किया और धीरे-धीरे उसमें पाउडर भर दिया। फिर पट्टी बांधने लगी। बेबी पूरी तरह होश में नहीं है। जब दूध में त्राण्टी मिलाकर चम्मच से उसे पिलाई, तो उसने आँखें खोलीं। सुन्दर गुलाबी चेहरा सफेद चिट्ठा पड़ गया। वह मुस्कराई और बोली, "बस बेबी ! धवरा गई। अरे दोर तो न जाने कितनी बार कूदते हैं।"

बेबी आँखें खोले देखती रही। न हंसी, न रोई और न बोली। प्रोफेसर की पत्नी की आँखें फिर-फिर कृतज्ञता से भर आईं। बोली, "आपने..."

"अरे छोड़िए भी ! बेबी को डाक्टर के पास ले जाना होगा। प्रोफेसर साहब आएँ तो कह दीजिए, और देखिए, बेबी को लिटाए रखना चाहिए। जल्द गहरा है।"

तभी जीने में खटखट हुई। प्रोफेसर कालेज से लौट आए। पड़ोसिन ने सामान संभाला और अपने घर लौट चली। जाते-जाते फिर कहा, "ब्राण्टी छोड़े जाती हूँ। जरूरत होगी तो फिर दीजिएगा।"

प्रोफेसर ने यह सब सुना और बेबी को खून से तर देखा तो धवरा उठे। बोले, "यह क्या हुआ ?"

"बेबी मूंडेर से गिर गई।"

"कहाँ चोट लगी ? ज्यादा लगी क्या ?"

"सिर में खूब गहरा जखम है। पड़ोसिन ने 'फर्स्ट एड' दी है। कहती है, अभी डाक्टर के पास ले जाना होगा।"

प्रोफेसर तभी बेबी को लेकर डाक्टर के पास गए। मरहम-पट्टी हुई।

टर ने कहा, "प्रोफेसर ! आपकी पत्नी बड़ी चतुर है।"

"जी !"

“पट्टी बड़ी अच्छी तरह की है। ट्रेंड है।”

प्रोफेसर के जो में धाया कि कहे—डाक्टर, जिसने पट्टी बांधी है वह मेरी पत्नी नहीं है। पर न जाने क्या हुआ, वे बोल न सके। चुपचाप बेबी को लेकर लौट आए।

सभी ऊपर से आवाज़ आई, “सुनिए तो।”

देखा, वही है। पूछ रही है, “क्या कहा डाक्टर ने?”

प्रोफेसर की पत्नी ने जवाब दिया, “आपकी तारीफ कर रहा था। कहता था जल्म गहरा है। देर लगेगी पर डर नहीं है।”

वह मुस्कराई, “सब ठीक हो जाएगा।”

घोर रात होने से पहले एक बार फिर पूछने आई। इन बार उसके पति भी हैं। घोर फिर वे दोनों रोझ सवेरे धूमकर लौटने तो फूलों के कई गुच्छे ले माने। पूछने, “बेबी कैसी है?”

“ठीक है।”

“ये फूल उसे दे दीजिए।”

दिन बीतते, जलम भरता घोर साय ही साथ पड़ोसिन का प्रेम भी बढ़ता। कभी-कभी छत से आकर वह बेबी को देख भी जाती है। अक्सर कोई न कोई सिलौना ले आती है। फूले हुए उड़नेवाले गुब्बारे, सजी हुई गुड़िया, दो घोड़ों की गाड़ी या सुन्दर सलौनी गाय।

प्रोफेसर देखते घोर एक अनिर्वचनीय पीडा से भग उठते। कहते, “मना क्यों नहीं करती?”

पत्नी कहती, “कैसे करूँ? सोचती हूँ, इस बार उत्तर मना करूंगी, पर वह आती है और ऐसे प्रेम से बोलती है, जैसे बेबी उसीकी है। थग, मैं बोल भी नहीं सकती।”

प्रोफेसर और भी चिन्चिनाते, “वाहियान! यह गव बन्द होना चाहिए।”

“तो क्या करूँ?”

“मना कर दो।”

“पर जानते हो, इन्हींकी बदौलत बेबी बची है।”

श्रीर तब पत्नी की आँगें भर आती हैं। प्रोफेसर उसे देखकर मुंह फेर लेते हैं। शायद उनका दिम भी उमड़ता है—प्रेम से या घृणा से, कौन जाने? पर उधर का क्रम उरी तरह चलता रहता है। यद्यपि जैसे-जैसे जन्म भर रहा है वैसे-वैसे उनका आना भी कम हो रहा है, पर प्रेम की गहराई बढ़ रही है।

आखिर बेबी का घाव भर गया पर अर्द्ध चन्द्राकार-सा एक निशान वहाँ बना रह गया है। चन्द्रमा के कलंक की तरह यह रेखा प्रोफेसर की पत्नी को अच्छी नहीं लगती लेकिन पड़ोसिन मुस्कराकर कहती है, “हलो! बेबी के माथे पर चन्द्रमा! शंकर बाबा का चन्द्रमा! कैसा सुन्दर! कैसा प्यारा!”

बेबी हंस पड़ती है।

एक संध्या को उसने छत पर से आवाज दी, “जरा सुनोगी बहिन?”

प्रोफेसर की पत्नी शीघ्रता से आई, “क्या है जी।”

“जो यह क्रीम है। धीरे-धीरे दो उंगलियों से घाव पर मलिए। देखिए, ऐसे धीरे-धीरे मालिश कीजिए। निशान मिटा नहीं, तो इतना फीका पड़ जाएगा कि दूर से कोई जान न सकेगा—चन्द्रमा में कलंक है।”

प्रोफेसर की पत्नी ने कृतकृत्य होकर कहा, “आप बहुत अच्छी हैं।”

“यानी बहुत खराब!”

प्रोफेसर की पत्नी घक् से रह गई, “जी! नहीं, नहीं जी।”

पड़ोसिन खिलखिलाकर हंसी, “आप तो डर गईं। पर कहा करते हैं कि किसीको यह कहना कि तुम बहुत अच्छे हो ऐसा ही है जैसे यह कहना कि तुम बहुत बुरे हो। क्योंकि जो आदमी अच्छा ही अच्छा है वह अभी तक कहीं दिखाई देता नहीं। लेकिन जाने भी दो यह तो विद्वानों की बातें हैं। वे जानें और जानें तुम्हारे प्रोफेसर। हमें तो यों ही हंस-खेलकर जीवन देना है। और हाँ! कल आप हमारे घर आइएगा।”

“कल क्या है!”

“उनका जन्मदिन।”

“बघाई ! बहुत-बहुत बघाई ! बहिन ! तुम्हारा सुहाग अचल रहे।”

“घन्यशद बहिन ! पर असली बघाई तो आपके माने की है।”

“अम्हर भाऊगी जी।”

“और प्रोफेसर भी।”

“बहु दूगी।”

“कहना नहीं, लाना होगा। घबराए नहीं, उनके द्वारा न्योता पढ़ूँ ब जाएगा।”

और वह फिर खिलखिला पड़ी। प्रोफेसर की पत्नी लज्जा गई। पड़ोसिन ने फिर कहा, “बेबी को न छोड़ आइएगा।”

“जी नहीं, सभी आएंगे।”

“घन्यवाद।”—उमने कहा और लौट गई।

प्रोफेसर ने जब सुना तब एक बार तो मन में उठा कि मना कर दें। फिर सोचा—यह तो बुगी बात है। इसके अलावा उन्हें पास में देखने का जो अवसर मिलेगा, उसे खोना ठीक नहीं होगा। इसलिए वे अगले दिन ठीक समय पर पड़ोसी के घर पहुँचे। द्वार पर उन दोनों ने सदा की तरह मुकुन्तित मन सबका स्वागत किया। जिस कमरे में वे बैठे वह बहुत बड़ा नहीं है। फर्नीचर भी सादा और कम, पर जो है सुन्दर है और सुनियोजित है—एक और फर्श, जिगपर बिछी है दूध-सी नई चादर। तबिये भी उतने ही उजले और कोमल। कारनिस पर नाना प्रकार के पशु-पक्षी। छोटी गोल तिपाइयों पर शान्तिनिकेतन के बने सुन्दर और रंगीन फूल। लाल रंग के खूबसूरत फूलदानों में रक्म हूँ हाजे फूलों के गुलदस्तों में महकती भीनी-भीनी गन्ध। प्रादमी भी उदादा नहीं। कुल मिलाकर पाच पुरुष, चार स्त्रिया और चार बच्चे। मानो एक पारिवारिक परिचय-गोष्ठी हो और सब छुट्टी के ‘मूँड’ में। आनन्द-विनोद और मधुर हास्य का वातावरण जैसे उमट उठा हो। जैसे उनके लिए दुनिया में न कही पीड़ा है, न

१२४ मेरी प्रिय कहानियाँ

चारों ओर हे वग प्रमोद ही प्रमोद । घर में हूंगी, आसमान में हूंगी, हवा में हूंगी, सर्वत्र हूंगी ही हूंगी...।

देगा, एक कोने में फूलों का प्रसन्न-धरम ढेर लगा है । एक मित्र बोल उठे, "जिधर देता फूल, मानो आप लोग मनुष्य नहीं फूल हैं ।"

पतिदेव बड़े जोर से हंगे, "प्रजी पृथ्वि मत् ! इन्होंने तो आज मुझे फूल ही समझ लिया था ।"

दुमरे मित्र हंगे, "कुशल मनाइए, इन्होंने आपको मसल नहीं दिया ।"

एक नवयुवती बोली, "अजी, फूल नहीं फूलों का देवता समझा होगा ।"

पत्नी ने मुस्कराकर कहा, "अजी, क्या उपमा दी आपने ! इनसे तो पत्थर के देवता कहीं अच्छे ।"

एक कहकहा लगा । पति ने हंसते-हंसते कहा, "क्यों नहीं । बेचारों पर कितना ही अत्याचार कर लो वे बोलेंगे बोड़े ही । पर भाई ! मुझसे तो ये सब सहा नहीं जाता । पहले ठंडे पानी में नहाइए । फिर पूजा करिए । फिर पूजा करवाइए । यह खाइए, देवी का प्रसाद, यह देवता का, यह आपकी दासी का, यह टीका लगवाइए, लीजिए मेरी मांग में सिन्दूर भर दीजिए । भला कोई अन्त है इस पूजा का ! वाप रे ! पत्थर ही की हिम्मत है !"

और तब ऐसा कहकहा लगा कि हंसते-हंसते सबके पेट में बल, आंखों में आसू... पर क्या मजाल वह भेंगी हो । उसी तरह हंसती रही । फिर हंसी-हंसी में काम की बातें चलीं । बवाइयां दी गईं और सूचना मिली कि चाय तैयार है । सब उठे और मेज पर पहुँचे । प्रोफेसर ने अब एक बार ध्यान से देखा, "वही उल्लास ! वही उमंगों की बेगवती

—इन्होंने सोचा और म्लान मन चुपचाप चीनी
...में प्लेटों में रसगुल्ले हैं, गुलाब जामुनें हैं, पेड़े हैं, पेडे की

रविनी है धीर है गरम गरम मसोमे, दागबीभी, दिविषा। कहने है, हमो-
हमने धीर धार दोनों में उगाडा खादा जाता है। प्रोफेसर भी हमने है धीर
गांरे है पर रह-रहकर उनसे हृदय में अंगे बोर्ड मूर्द खूम उठनी है। ये
'मो' करना चाहते थे, पर पर नहीं मकते। इसलिए पीटा धीर भी धगल्य
हो उठी है। तभी धवानक उम्होने देगा - बेबी गननी-बूटनी चारो धीर
धीर रही है। तभी हम गिनोने को लूनी है तभी उमकी। ध्यान धापा कि
बही कृष्ण मोद न दे इसलिए पुकार में। पर जैसे ही उम्होने पुकारना चाहा,
बेबी भागी। उमका पैर निगार्ड म मगा। निगार्ड उमके गर्द धीर उमपर
के गिनोने, बीमनी कनदान पूर-पूर हाकर पटा पर बिगर गए। जैसे
भूडोव खादा। प्रोफेसर बूड विन्वा उठे, "कम्पना! लूने यह क्या
किया!"

जैसे धाण-भर के लिए प्रमाण गागर उबल उठा। सबकी दृष्टि उत
धीर उठी। गृहिणी ने एक बार बूड प्रोफेसर का देखा, फिर सद्मी-
महफजार्ड बेबी को, धीर फिर गिनगिवाकर लग पडी। देगले-देगले बेबी
को मोदी में भर दिया धीर पागलों की तरह खूमने लगी, "बेबी! मेरी
बेबी! जानती हो, तुमने धाज एक बहुत बडा काम किया है, बहुत
बडा!"

धीर फिर प्रोफेसर को धीर मुहकर उसने कहा, "बाप बडे निदंयी हैं।
ऐसे प्यारे बच्चे को ताडने है? गिनोनों का मुख्य गिनने में है धीर जब
उनमें भेजा जाएगा, तो उनका टूटना जरूरी है।"

फिर धाण-भर के लिए रुकी, जैसे गांठ लेती हो। धीरे से बोली, "न
जाने कब में रहे थे। न कोई लूना था, न सेवता था। देखते-देखते भांते
पक गई थी। धाज बेबी ने उमीं पकान को दूर किया है।"

धीर कहकर उसने फिर बेबी को खीर-खीर में घूमा धीर फिर उतार-
उतारकर सारे गिनोने उमके सामने धावने लगी, "गेलो धीर लोड़ो, मेरी
बच्ची! खूब लोड़ो। धांतिर हमका मल्ल धाना ही चाहिए, धाना ही
चाहिए।"

शतरूपा की मौत

२६ अगस्त, १९६१, तदनुसार ४ भाद्रपद, १८८३ शकाब्द । प्रातः
दस बजे

कल शतरूपा का पत्र आया था और आज वह आने वाली है ।

वह मुनहरे वालों और उनींदे नयनोंवाली एक कोमलांगी लड़की है ।
अब तक मैंने उसे दूर-दूर से ही देखा है । और हर बार उसके नये सौन्दर्य
में अभिभूत हुआ हूँ । दूरी भी एक सौन्दर्य है, आकर्षण का सौन्दर्य ।

उसके आने पर मुझे प्रसन्नता होनी चाहिए, पर जब से पत्र पढ़ा है
तभी से मेरा मन घुटा-घुटा-सा हो रहा है । मैं मान लूंगा कि मुझे डर लग
रहा है, जैसे बहुरंगी सर्प को धूप में रेंगते देखकर लगता है ।

वह मेरे पुराने मित्र श्री मनु खन्ना की निजी सचिव और उसकी एक
सस्ती बाजारू किस्म की मासिक पत्रिका 'सीमान्त प्रभा' की सम्पादिका
भी है । खन्ना निहायत ही कमीना और बदजात इन्सान है, इसलिए दिन-
प्रतिदिन प्रगति कर रहा है । सवेरे उठते ही वह नौकरों को डांटता है । वे

और अक्सर वे नहीं होते, तो गरीब बीबी को डांटता है । उसके
बांधकर मालिश करवाता है । उस समय वह ऐसा लगता है
जैसे गुहा-मानव वीसवीं सदी में भटक गया हो ।

एक छोटे-से कमरे में बैठता है । जिसके चारों ओर ऊंची दीवारें

हैं। उनके ऊपर से होकर उसके ऊँचा-ऊँचा बोलने का स्वर पड़ोसियों को परेशान कर देता है। वह धक्कर ऊँचा बोलता है और धक्कर बड़े-बड़े दावे भी करता है। वह गांधी के हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है, इसी-लिए पहले क्षण जिसको वह मिटा देने की कसम खाता है दूसरे क्षण उसके पंर पकड़कर गिड़गिड़ाने में तनिक भी नहीं झिझकता। सभी सफल व्यक्तियों की तरह वह सुविधानुसार राजनैतिक दल बदलता रहता है। ब्लैंक मार्केट में निष्णात है और सड़कियों को आकर्षित करने में 'बृहत् कया' का नायक नरवाहन दल भी उसे नहीं जीत सकता।

उसको और शतरूपा को लेकर मैंने बहुत-सी कहानियाँ सुनी हैं।

सुना है कि उसको जब कहीं किसी मन्त्री, सचिव या मिल-मालिक से काम होता है, तो वह शतरूपा को अपने साथ ले जाता है। उसके शरीर से उठती मोहक गन्ध की उपेक्षा आज तक कोई भी व्यक्ति नहीं कर सका। मोहिनी की भाँति वह सहज भाव से कहीं भी जा सकती है। जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी ओर देखने का दुस्साहस करते हैं उन्हें अपना शील बचाने के लिए खन्ना को काफी भेंट-भूजा चढानी होती है।

सुना है कि खन्ना की परिणीता परित्यक्ता मात्र रह गई है और स्वामिनी के पद पर भा बँठी है—यह रूपा...

धक्क जाने दीजिए। सब सुनी-सुनाई बातें हैं। पर फिर भी मुझे डर लगता है। वह मेरे इस एकान्त अंधेरे कमरे में मेरे सामने बँटेंगी। उसकी आँखों में एक अजीब-सा नशा है। वह मुझसे क्यों मिलना चाहती है? मैं मना क्यों न कर दूँ? अभी भी समय है, लेकिन मैं कयाकार हूँ, मुझे...हे प्रभु, मेरी रक्षा करना।

दस बजे रात

शतरूपा ठीक ग्यारह बजे आ गई थी। और दो बजे उसे जाना पडा। इन तीन घंटों में मैंने उसे खूब पाम से देखा। इतने पास से कि मैं उसके गोरे-गोरे धगो में उठे हुए रोमों का वर्णन कर सकता हूँ। जब उसने

मेरे इस एकान्त अंधेरे कमरे में प्रवेश किया तो वह बेहद खूबसूरत लग रहा था। उसने कहा, "मैं आ सकती हूँ?"

मैंने उसकी ओर देखा। गद्गद होकर बोला, "आओ, आओ। मैं तुम्हारी ही राह देता रहा था। क्षमा करना, कमरे में रोगनी कब है, बिजली जलाता हूँ।"

वह हसी, "अंधेरे एकान्त कमरे में बैठकर ही विचार मूर्त रूप लेते हैं। आपकी कहानियों के अन्तर्द्वन्द्व ने मुझे बार-बार भभोड़ा है।"

मैंने तब तक स्विच ऑन कर दिया था और डेर सारा घबल प्रकाश उसपर बिखर गया था। मैंने उसे खूब पास से देखा। मेरा अन्तर्मन अनायास ही ग्लानि से भर आया। उस मोहिनी के नीचे निर्लज्जता भलक-भलक उठती थी। मैं कांपा, पर यन्त्रवत् मुस्कराकर कहा, "बैठिए।"

दोनों ही बैठ गए और कई क्षण अन्दर के तनाव से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढते रहे। किसी तरह मैंने कहा, "तुम्हारा पत्र मिला था। मुझसे क्या चाहती हो?"

वह फिर भी मौन, धरती की ओर देखती रही। बोलने का प्रयत्न किया परन्तु बोल नहीं सकी। बस खामोश निगाहों से देखती रही। उन खामोश निगाहों ने कितना कुछ कहा, बता न सकूंगा। शायद वह अपने रूप की निर्लज्जता को छिपाने की जी-जान से कोशिश कर रही थी। और इस कोशिश के कारण ही उसके गौर वर्ण में कभी-कभी स्वर्णिम आभा भलक उठती थी। मेरे मन में एकाएक करुणा का उद्वेग हो आया। मैंने कहा, "आप शायद भिभक रही हैं।"

"जी।" उसने छोटा-सा उत्तर दिया और फिर शब्दों के लिए छटपटाने लगी। जैसे-जैसे उसकी छटपटाहट बढ़ती गई, वैसे-वैसे वह तरल होती गई। हठात् उसके नयनों के कौर भोग आए और उन्हें पोंछने की चेष्टा किए वगैर उसने कहा, "मैं आपके पास सहायता के लिए आई हूँ। मे निराश तो न करोगे।"

मैं उसे देख रहा था। देखता रहा। बोला नहीं। पर वह जैसे इन्हीं

सब्सों को कहने के लिए तड़फटा रही थी। कह चुकी तो उसका रग लौट आया। और यह दृढ़ स्वर में बोली, "मेरे बारे में आपने बहुत कुछ सुना होगा।"

मैंने कहा, "सुना तो है, पर सुना हुआ क्या सब ही होता है?"

वह बोली, "कम से कम मेरे बारे में तो है। कहूँगी कि मैं उससे कुछ अधिक ही हूँ।"

देखता रह गया। वह सीधे मेरी आँखों में भाँक रही थी। बोली, "जो कुछ मेरे बारे में प्रचलित है, उसको दोहराने की लज्जा में मैं बचना नहीं चाहती। पर निष्पेक्षता से लाभ भी क्या। १४ वर्ष पूर्व मा केवल हम दोनों बहनों को लेकर ही किसी तरह यहाँ पहुँची थी। कैसे पहुँची थी, ठीक-ठीक याद नहीं। कुल छः वर्ष की थी। पर उसके बाद न जाने कितने पुरुष हमारे जीवन में आए। मुझे सबसे पहले वर्मा जी की याद है। उनकी बड़ी-बड़ी मुँछें थीं। शरीर बेडगा था। देखकर मुझे डर लगता था। हमारे जीवन में आने के बाद से कुल पाँच वर्ष जिए। उन पाँच वर्षों में हमें मनुष्य बनाने के लिए उन्होंने जो कुछ किया उसकी याद करके मुझे रोना आ जाता है। काश, कि वह और जी पाते। उन्होंने का पुण्य तो मुझे आपके पास आने का साहस दे सका है।"

"फिर एक वर्मा जी थे जो समाज-सेवा केन्द्र के अधिकारी थे। उनकी बिल्की जैसी आँखें दिन में भी धमकती थीं। हम दोनों बहनें उनसे बहुत डरती थीं। पर न जाने क्यों, मां उनकी प्रशंसा करने में झगडती थी। वे हमारा पूरा सपना उड़ाते थे। और घर-घर हम दोनों बहनों को बहू-नी भोगों से भिन्नवाते थे। यहाँ करने थे—मनुष्य ही मनुष्य के काम आता है। सबसे खूब हेतुवैत बढ़ाते रहना चाहिए।"

मैंने एकाएक कहा, "क्षमा कीजिए, क्या वे भी..."

"ओ नहीं", यह हम वही, "वे मरे नहीं; जैव में जिंदा हैं। किसी तरह का योग्य व्यवहार करने और फिर भार धारण के व्यवस्थापन में आरम्भ कारावास की सजा भोग रहे हैं।"

“घोह !” में इतना ही कह सका ।

उसने कहा, “लेकिन मे निरे मूर्ख थे । नहीं तो आज ये सब काम करके भी मनु गन्ना • मनु गन्ना से हमारा परिचय उन्होंने ही करवाया था । मैं गन्ना में नफरत करती हूँ, मनु नफरत । मैं • मैं उसके हाथ में अला-दीन का निराग हूँ । यह समय भी मेरा उपयोग करता है और दूसरों को भी करने देता है । यह हर वस्तु को इसी दृष्टि से देता है और हर लड़की उसी दृष्टि में वस्तु मान है । • • •”

एकाएक उसे न जाने क्या हुआ । उसने कुर्सी के हथिये को जोर से पकड़ लिया । रंग पीला पड़ गया । तीव्रता से कांपी और पीछे को गिर पड़ी । मैं पचड़ा उठा । तुरन्त पानी लाकर जोर-जोर से मुँह पर छपके दिए और पुकारने लगा, “रूपा • • • रूप, आंखें खोलो । आंखें खोलो ।”

मैंने उसकी आंखों की पलकें उठाई, उसकी हथेलियों को सहलाया, दिल की तड़कन महसूस की और यह भी महसूस किया कि इस क्षण उसे होश न आया तो मैं भी गिर पड़ूँगा । पर तभी वह कुनमुनाई । आंखें खोल-कर चकित मृगी-सी शून्य में ताकने लगी । फिर एकाएक उठ बैठी, “घोह ! मुझे क्या हो गया था । मैं ऐसी क्यों हुई । आप मुझे क्षमा कर दें । मापको • • •”

मैं भी संभल चुका था । धीरे से बोला, “लो पानी पी लो । और घर चली जाओ । शेष कहानी फिर किसी दिन सुनाना ।”

वह पानी पी चुकी थी । अब सीधी होकर बैठ गई और उसने कहा, “नहीं, नहीं, फिर नहीं । कहानी इतनी ही है । कथाकार को क्या शब्द-शब्द समझाना होगा । वस दो शब्दों में आने का कारण और कहूँगी । न जाने आज कैसे साहस बटोर सकी हूँ । कल को इसे खो बैठी तो • • •”

मैंने यंत्रवत् कहा, “अच्छा, कहो ।”

वह बोली, “सुनोने ?”

उसका रंग फिर विवर्ण होता दीख पड़ा । मैंने तुरन्त कहा, “हां, सुनूँगा ।”

“तो सुनो,” उसने खूब दूढ़ होते हुए कहा, “मैं मा बनने वाली हूँ और चाहती हूँ कि मां बनी रहूँ।”

बहकर उसने धार्वे मॉच ली। मैं नहीं जानता कैसे मैंने दीवार पकड़ी और धीरे-धीरे फर्श पर बैठ गया। शुरू है उतनी देर रूपा धार्वे बद किए सोफे की पीठ पर सिर रख बैठी रही। जब उसने धार्वे खोलीं तो मैं अपना तक उमकी ओर देखा बैठा था। उसकी धार्वे में धार्वे थे। कठ रूंध गया था। धार्वे न सकी। तुरन्त अपने ग्लाउंड मे हाथ डालकर उसने एक निष्काका निकाला। बोली, “तो इतने पढ़ लो।”

पत्र बहुत लम्बा नहीं था। एक सास में ही पढ़ गया। अन्त में उसने लिखा था, “...सन्ता ने इससे पूर्व दो बार मेरा मातृत्व छोना है। मैं नहीं चाहती कि तीसरी बार भी वह कहानी दोहराई जाए। वह मुझमें रोज लेडी डाक्टर के पास जाने को कहता है। धार्वे तो जानते ही हैं कि बहुत-सी लेडी डाक्टर यही पेशा करती हैं। पर मैं चाहती हूँ कि मा बनी रहूँ। सन्ता ने मुझे ससार की वे सब चीजें दी हैं जो शरीर और रूप को सजा-रती हैं। पर वह मेरी धार्वे को कलंकित करने में सफल हो गया। मैं गरीब थी, उमने मुझे धन दिया। बेसहारा थी, सहारा दिया लेकिन यह धन, ये सासारिक वस्तुएं, ये धार्वे-धार्वे न तो सुख देते हैं न सन्तोष।...मैं सन्ता को खूब प्यार करती, यदि वह हत्यारा न बनकर मेरे बच्चे का पिता बनता। मैं तब कितना खुश होती। मैं जानती हूँ, मैं पापिष्ठा हूँ। पर यह भी जानती हूँ कि धार्वे बच्चों को मैं बहुत ही गहराई से प्यार करती हूँ। ओह! वह धार्वे भ्रूण भाव है। पर मैं उसको सुनाने के लिए लोरियां गाती हूँ। उसकी कमल जैसी धार्वे में काजल लगाती हूँ। उसकी सुनहरी बालों की लट्टें माधती हूँ। उसकी मखन जैसी मुलायम हथेलियों को चूमती हूँ।

“मैं जानती हूँ, मेरा यह बच्चा धार्वे पिता का नाम न ले सकेगा। मैं चाहती भी नहीं कि उस जैसा बदजात इन्सान मेरी सन्तान का धार्वे बने। धार्वे कहलाना उसमें कहीं बेहतर है। मैं उस धार्वेवाद में भी नहीं फंसना

बाहरी कि कोई उपाय करके उमका जिला बन जाए। मैंने जो किया है उसे भोगने का मातृम भुममें है, पर मैं उसे गोना नहीं चाहती।”

सिहर में स्तरण का गया। अन्दर प्रायोग उमक-मुनक़ घाया। पर मुनक़न नहीं भी नहीं थी। कई क्षण बाद मैंने उसने कहा, “मेरे एक मित्र मन्त्रिण है, कभी मेरे साथ चलो।”

वह बोली, “कौन?”

मैंने नाम बताया तो वह मुस्कराई। ओह, वह मुस्कान! किसीके मुग पर इतना क्रूर व्यंग्य साम्य ही देगा ही। बोली, “कई बार खन्ना के माम मे उनके पास गई हूँ। कोई आशा नहीं। मजिस्ट्रेट, पुलिस, मन्त्री, कहीं कुछ नहीं हो सकता।”

मैं स्वीकार करूंगा, मैं कुछ नहीं समझ पा रहा था। उसकी समस्या की जटिलता और उलझन ने मुझे विमूढ़-सा कर दिया था। वही बोली, “कई बार आत्महत्या करनी चाही। पर हर बार अन्दर से उसने मुझे खींच लिया।”

मैंने एकदम कहा, “तो फिर मैं क्या करूँ?”

उसने मुझे ऐसे देखा कि मैं सिहर उठा। कुछ कहूँ, इससे पूर्व ही वह फूट-फूटकर रोने लगी और क्षमा मांगने लगी, “मैं मुहजली क्या करूँ। कहां जाऊँ। जिन्द्या रहना चाहती हूँ और...क्या कहीं मुझे नौकरी नहीं मिल सकती?”

मैंने उत्तर दिया, “भूठा आश्वासन नहीं दूंगा; इस हालत में कोई बहुत आशा नहीं है।”

वह बोली, “कोई आशा नहीं?”

उसके इस वाक्य में जो निराशा भरी हुई थी, उसने मेरे अन्तर को छेदकर रख दिया। जैसे बड़ई पेचकश से लकड़ी को छेद देता है। मैंने कहा, “नहीं, नहीं, मैं प्रयत्न करूंगा। तब तक...”

उसी क्षण हम दोनों ने अचरज और भय से देखा—मनु खन्ना मुस्काना हुआ मेरे द्वार पर खड़ा है। वह मेरे घर कभी नहीं आता। हम बात

तक नहीं करते। पर तब वह मुक्त भाव से मुस्कराकर बोला, "घा सकता हूँ भाई साहब।"

न जाने कैसे मैंने इतना ही कहा, "भाइए।"

वह दो कदम और आगे बढ़ा। फिर रूपा से मुख़ातिब होकर बोला, "रूप ! तुम्हारी बातें ख़त्म हो चुकी हों तो चलो; खाना ठंडा हो रहा है।"

क्षण-भर पहले जो रूप खूबसूरत हो उठी थी, वह अब मोम की तरह पिघल गई। बोली, "जी हाँ, चलती हूँ। भाई साहब विशेषांक की कहानियों का सम्पादन करने को सहमत हैं।"

मैं हतप्रभ-विमूढ़; जैसे था ही नहीं। रूपा उठी और मेरी ओर देखकर बोली, "कहानियाँ लेकर फिर आऊँगी।"

वे दोनों चले गए। जाते वक़्त रूपा सदा की तरह मुस्करा रही थी। और खन्ना जोर-जोर से गुस्से में न जाने क्या-क्या कह रहा था। क्योंकि मैं तो तब था ही नहीं।

२६ सितम्बर, १९६१ तबनुसार ४ आश्विन, १८८३ शकाब्द। प्रातः दस बजे

एक महीने से रूपा को नहीं देखा। खन्ना के कमरे के जानीदार किबाड़ो से भाकने का खज्जाजनक काम भी मैंने किया, पर रूपा की भलक न पा सका। कई बार जी में उठा कि खन्ना से जाकर कहूँ—गंतान के बच्चे, बता लूँने रूप को कहा छिपाकर रखा है। मैं धाने में रिपोर्ट करूँगा।.....

मैं जानता हूँ कि खन्ना तब खूब हसेगा। रहेगा, 'भाई साहब, चँठिए चाय पीकर जाइए। अभी पता करता हूँ कि रूप कहानियाँ लेकर आपके पास क्यों नहीं आई? 'सीमान्त प्रभा' का विशेषांक अक्टूबर में ही तो निकलता है और हाँ, भाई साहब आप जानते हैं 'सीमान्त प्रभा' ने सब रिफ़ाई तोड़ दिए हैं। तीस हज़ार छापता हूँ फिर भी माँग पूरी नहीं कर पाता। विशेषांक पचास हज़ार छाप रहा हूँ।.....'

मैं जानता हूँ ये सब बिस्से हैं। कागज़ सब र्विक मे आता है पर मुझे

बढ़ती ही जा रही थी और मेरा मन पहले दिन की भेंट के वक्त से भी अधिक आशाकांक्षों से भरता जा रहा था। तभी टैक्सी आ गई। वे दोनों चले गए और बीच की दूरी सीमाओं को लाय गई। तब से मैं बराबर सोच रहा हूँ। जितना सोचता हूँ सीमा उतनी ही प्रलंबनीय बनती जा रही है।

२७ सितम्बर, १९६१ तदनुसार ५ आश्विन, १८८३ शकाब्द, प्रातः
दस बजे

सवेरे-सवेरे रूपा का पत्र आया।...

“कल राधा को मैंने आपकी छत पर देल लिया था। जिस रूपा की आपकी तलाश है वह मर चुकी है और शिमला में दफनाई जा चुकी है। वह शय मान बनेगी, कभी न बनेगी। अब वह केवल उपयोग की वस्तु-मात्र है।

“कपाकार! तुम मेरे मजार पर भासू बहा सकते हो। मुझे मुक्ति नहीं दे सकते। कहते हैं, बिड़िया सांप से बहुत डरती है पर उसके नेत्रों का मादक भावपंग उसे सीधे उसके मुह में खीन ले जाता है।... जानते हो खन्ना ने मुझे हीरे की एक झंगूठी दी है। मेरा वेतन भी बड़ा दिया है। सुनो, मैं अब पीने भी लगी हूँ।...”

कैसी निरुद्दिग्न तटस्थता, कैसी योग-साधना! मेरे वक्ष में जैसे किसी-ने छुरी मार दी हो। जैसे मस्तक पर शिलाखड दे मारा हो। आवरण के नीचे यह कैसी दुनिया है! कैसी सावधानी से असत्य की इस मुनहरी और मोहक पोशाक के नीचे हमने अपनी कुरूपता को ढक रखा है जैसे संसार में जो कुछ भी हो रहा है इस वीभत्सता को ढकने-छिपाने के लिए ही हो रहा है! जैसे ढकना-छिपाना ही सहज-सरल है, शेष सब मिथ्या।

बस, मेरे हाथ ऐंठने लगे, दृष्टि ऐंठने लगी, मस्तिष्क ऐंठने लगा।

दस बजे रात

सब कुछ भूलने के प्रयत्न में खोया-खोया-सा बैठा था कि एक परिचित स्वर सुना—“मैं आ सकती हूँ?”

जिन कहानियां इन्हीं सुमाकर देगता हूँ—रूपा है। हठान् डर गया। यह क्या क्या बायो रूपा है? यह कुल परिवर्तित हाव-भाव, न लज्जा, न मुहुंवाई मुद्रा। यह जो कोई अपरिचित है, निदान्त अपरिचित। बस, सक-नकाई नस्यो मे देगता ही रहा। अपने समय में रूपा ठीक मेरे मानने की कुर्मी पर बैठ गई थी। बोनी, “पत्र मिल गया था?”

मैंने अपने को संभावते हुए किसी तरह कहा, “हां।”

बोनी, “कहानी लिगी?”

बिमुठ-सा मैं बोला, “कौसी कहानी?”

वह मुस्कराई, “मपों, मेरे बारे में? संसार-भर को तुम अपनी कहा-नियों में निहित करते हो, मुझे नहीं करोगे? काश, कि मैं लिख पाती, तो धरती कांप उठती। अचछा, मैं प्रयत्न करूं तो क्या ठीक कर दोगे?”

मैं पागल-सा बोला, “रूप!”

वह एकाएक विवर्ण हो आई। कहा, “रूप, मत कहो। उसने आत्म-हत्या कर ली। उसके भीतर जो औरत थी वह कभी की मर चुकी।...”

मैं जैसे चीख पड़ूंगा। पर अपने को रोका और शान्त भाव से कहा, “रूप, तुम चली जाओ।”

रूपा एकाएक पलट गई। हंसी, “जाऊंगी तो हूँ ही, नहीं तो खन्ना खा जाएगा। पर ये कहानियां लाई हूँ। इन्हे देख नहीं देंगे?”

और उसने एक बड़ा-सा पकेट मेरी गोद में फेंक दिया। मैं आंखें फाड़ें उसकी ओर देखे ही जा रहा था—पाउडर की मोटी तह के नीचे निर्ल-ज्जता के काले छल्लों को, कि वह फिर बोली, “अब तो डरने की कोई बात नहीं रही। सचमुच ही वस्तु मात्र रह गई हूँ। आप भी वस्तु ही हैं और मानेंगे कि वस्तु की सार्थकता उसके उपयोग में है। आप कलाकार हैं। आप मेरी कहानियां ठीक करते रहिए मुझपर कहानियां लिखते रहिए। मैं मादा हूँ; मैं आपका...”

अपने को रोकने में असमर्थ मैं चीख उठा था, “निकल जाओ, अभी निकल जाओ।”

सच कहता हूँ, रुपा तब उतने ही जोर से हँसी थी, "सत्य से आदमी इमी तरह डरता है। पर करता यही है। जा रही हूँ। कहानिया छोडे जा रही हूँ। जानती हूँ, देखकर सौटा देंगे। और हाँ, मुझपर कहानी लिख चुको तो दिखाना अवश्य।"

और वह चली गई। जाते-जाते एकाएक दृष्टि मिल गई थी। सच-मच कहूँ। उसके नयनों के कोने भीग आए थे। वह जी-जान से उमड़ते धांसुधों की छिपाने का प्रयत्न कर रही थी। और घनीभूत पीडा कुण्डली मार-मारकर भुंके जकड़ रही थी और एक नया सत्य मेरी आँखों के आकाश में उभरता आ रहा था।***

तो आदमी 'सुन्दर' को भी छिपा लेता है।***

आकाश की छाया में

आनन्द उन दिनों बहुत परेशान था। बोर्ड के स्कूल में पांच अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी और एक हजार प्रार्थनापत्र आ चुके थे। आना अभी बन्द नहीं हुआ था और जैसी कि अभावग्रस्त देशों की परिपाटी है— बहुत-से सिफारशी पत्र भी उनके साथ-साथ आ रहे थे।

उन पत्रों के लिखने या लिखानेवालों में मन्त्री, सचिव, बड़े-बड़े सरकारी अफसर, जन-प्रतिनिधि, हमारे प्रतिष्ठित व्यक्ति, सभी थे। उनमें अपरिचित भी थे और परिचित भी; ऐसे परिचित कि एक वन्दु ने एक दिन रात को बारह बजे टेलीफोन किया, “हलो, हलो, आनन्द !”

अंधता हुआ आनन्द बोला, “कौन है ?”

“कौन है, अच्छा, पहचानते भी नहीं ? अरे, अभी से यह हाल है ! गुल्ली-डंडा किसके साथ खेलते थे, लड़ते किससे थे, कुट्टी किससे करते थे...?”

अब आनन्द है कि खीझ रहे हैं, सोच रहे हैं।

“हलो, हलो, सो गए ? अरे मैं हूँ मदन, मदन टोपा।”

“मदन, ओह मदन, तुम ! रात को बारह बजे कहां से बोल रहे हो,
”

“बोलूंगा क्या जहन्नुम से ! अरे, तुम्हारे ही शहर में हूँ।”

“यानी यही । नहीं-नही, तूम झूठ बोल रहे हो ।”

“यानी हम झूठे भी हैं । भलेमानस, पांच वर्ष से यही हूँ । मेहता एण्ड पुरी में ।”

“कामात करते हो, यार, पांच वर्ष से हो और पता तक नहीं दिया ।”

मदन साहव खूब हसे । कुछ इधर-उधर की बातें हुईं । फिर बोले, “अरे भाई, मुना है, तुम्हारे बोर्ड के स्कूल में कुछ अध्यापिकाएँ रखी जा रही हैं ।”

धानन्द का माथा ठनका, बोला, “अरे हा, वह तो चलता ही रहता है ।”

“तो हमें भी बला दो न ! मेरी छोटी साली है, नाम है कुसुम ।”

“तो यह बात है ! साली की चिन्ता है !”

“चिन्ता पूरी है, यार, पर्ड डिवाइज्ड है । इसीलिए कण्ट दिया ।”

“कण्ट तो क्या है, पर...”

“तो घब में निश्चिन्त हूँ, तूम जानो तुम्हारा काम जाने जाने !”

घब नियम से हर रोज़ टेलीफोन एक बार तो घा ही जाता है । दो-तीन बार स्वयं कृपा कर गए हैं । कुसुम भी दर्शन दे गई है । एक मन्थी के निजी सचिव ने केवल उसके लिए ही धानन्द को चाय पर बुलाने की कृपा की है । प्रयाग से उसके मामा के साले का पत्र भी घाया है ।

और पचा ही तो बात ही क्या है ! रजिषा, राजराज्ञी, पुष्पा, मोना, रोज़ और ऐसी ही अनेकानेक नारियों का इतिहास धानन्द को बार-बार सुना पडा है । रजिषा पात्रकान्तिम पद पर है बडा वेतन कम है । राज-राज्ञी के विवाह-सौम्य दो लडकियाँ हैं । रोज़ पति के पास आना चाहती है । मोना एम० ए० पास है । पुष्पा के पति अन्धे पद पर हैं, चार सौ पाने हैं, पर खर्च है कि पूरा ही नहीं होता । यह योग धानन्द के अन्धे-जामे परिचित है, लेकिन पचा तो धानन्द के एक परम मित्र की मनेतर है और वह परम मित्र एक प्रसिद्ध पत्रकार है...

बेबाग धानन्द ! उसे ऐसा लगता है कि वह दम नूदान में हूँ

गए। वह अपने भाई को इंजीनियरिंग कॉलेज में भेजना चाहते थे। उसीके लिए निकारिशी पत्र लिखवाकर लाए थे। मार्ग में आनन्द की धन्यवाद देने रुक गए। उन्हें पूरी धारणा है कि जैसे अब तक किया, वैसे ही वह धामे भी कृणुम की मदद करेंगे। कृणुम स्वयं भी आई। इसी तरह पुण्या, नीगा, रोड, राजरानी, रजिया आदि या तो स्वयं आई या उनके टेलीफोन आएं या अभिभावक आए; पर सरला है कि स्वयं तो क्या आती, किमीने उनकी ओर से धन्यवाद के दो-एक शब्द तक न भेजे।

कोन है यह सरला !

आनन्द ने मुलाकान के दिन ही उसे देना। देगता रुक गया। न रूप, न रंग, न प्रसाधन, पर फिर भी जैसे मगूचे कमरे में उसकी छाया भर उठी है। प्रत्येक प्रश्न को उगते ध्यान से गुना घोर विनम्रता से उनके उगार दिए। वे उगार न किमी पुस्तक में निगे थे, न किमीमें पृष्ठपर रटे गए थे। अंतर की गहराई से निकले मदे-मुले शरों में जैसे प्रश्नकर्ता स्वयं उपभू गए। इसलिए जब पत्राग में से पत्र का पनाव हुआ, तो सरला उनके न थी। आनन्द ने सबसे पहले उसीका नाम पूना था, पर अब मिर्चा के वन घोर प्रायियों के बेहरे उनके स्मृति-पटल पर उभरने लगे, सब उगने पाया, सरला का नाम बही नहीं रह गया है। वह क्या बने। घोर, बहू भी बहू, उगते दूसरे मापी भी उगने सहमत है। उन्होंने कहा, "गणना की घोषणा में कोई मरने नहीं, पर हमें जमी अध्यापिका चाहिए, पैकी बहू नहीं है। वह गहरी है, पर माय ही बहुत मधीम भी है। घोषण है पर उगना प्रयास का जाने वाला है। ऐसा जान पड़ता है कि उगने अधुन में बहो होना है, जो उगे लुने नहीं देती। ऐसी अध्यापिका के हाथ में बच्चियों की हीरना करने से मेगता है।"

एक संवत्सराय विमंत्र में आनन्द को बही पत्र लिखी, फिर की एक बार बहू को न पाया। बहुत देर तक देखी-देखी जाते रहे। लकी स्मृति के अधिभावक उगने अधुन हुए थे। उन्होंने लकी से "आनन्द के हाथ

अपने ऊपर हावी होने दिया। क्यों...क्यों...!

‘और जब उसने अभिमान किया है तो भुगुजे ! मुझे क्यों परेशान करती है !’

श्रीरमानन्द ने फिर नेत्र मूंदकर सरला से मुक्ति पानी चाही, पर सरला ने उसे पकड़ा कहां या जो मुक्ति मिलती ! वह तो स्वयं उसीकी अचचेतना थी जो उससे छल कर रही थी। इसलिए वह रात-भर लुका-छिपी का खेल खेलता रहा। सवेरे उठा तो भग-भग दर्द कर रहा था। उसने किसीसे कुछ नहीं कहा। घुपचाप घूमने के लिए निकल पड़ा। कुछ देर चलने के बाद उसने अपने-आपको वहां पाया जहां एक और पचमंजली आलीशान इमारतें लड़ी थीं और दूसरी और, टीक उनके पीछे वे गन्दे और बदबूदार अस्तवत थे, जिनमें आजकल घोड़ों के स्थान पर सभ्य इन्सान रहते थे।

देखकर आनन्द का मन भर आया। लोग उती गन्दी और पानी से भरी सड़क पर सो रहे थे। कुछ छाट पर थे, कुछ टेलों पर। एक बुढ़िया अपने जैसी ही एक भारामकुरसी पर सोने का नाटक कर रही थी। कुछ युवक मूखी जमीन पर एक-दूसरे में उलझे पड़े थे। न बिछावन, न थोड़ना, शरीर पर भी दूसरा वस्त्र नहीं। पास में ही गाय-भैर और घोड़े पिछले दिन की मकान उतार रहे थे। उनसे अचता हुआ वह एक अस्तवत के सामने आ खड़ा हुआ। यही सरला का पता था...

सामने देखा—बिवाड झूले हैं और अन्दर का सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कोई कमरा नहीं, परदा तक नहीं; पर जो है उसमें नियम है। सामान संक्षिप्त है, पर व्यवस्थित है। बीच में एक खाट बिछी है, जिसपर एक पुरप सेटा है। शायद पति है। उगीके पास फर्श पर सरला बैठी है। उसका एक हाथ पति के वक्ष पर है, दूसरा एक शिशु की पीठ पर जो अपने तीन भाई-बहनों के साथ मां के पाम धरती पर सेटा है।

आनन्द का मन और भीग आया। वह लोया-लोया-सा भागे बढ़ा, सभी उसे लगा जैसे वे लोग दारों कर रहे हैं। वह ठिठककर पीछे हट गया।

उधार लिया था।' वे समझ नहीं पा रहे थे कि कैसे उसका बदला चुकाया जा सकेगा। पद्मा तो भावावेश में ऐसी हो रही थी जैसे अब रोई, तब रोई। और कुसुम सचमुच रो पड़ी। आनन्द भी कम भावुक नहीं है। उसे भी कण्ठावरोध हो आया। आधी रात इसी भ्रमेल में बीत गई तो उसने सोने की चेष्टा की, पर तभी उसे लगा जैसे उसके हृदय में टीस उठ रही है। 'नया कारण हो सकता है?' उसने सोचा।

उत्तर मिला, 'तुमने जो चुनाव किया है वह योग्यता के आधार पर नहीं किया है।'

'वह तो सदा ही ऐसा होता है।' और उसने करवट बदलकर आंखें मींच लीं, पर उस अन्धकार में तो सरला की मूर्ति और भी स्पष्ट हो उठी। फिर तो ज्यों-ज्यों वह आंखों के द्वार और जोर से वन्द करने का प्रयत्न करता, त्यों-त्यों सरला का रंग और भी निखरता चला आता। कुसुम, पद्मा, रोज, नीला, रजिया सब उसकी छाया में ऐसे ही खो जातीं जैसे सूर्य की आभा में तारागण छिप जाते हैं। तब घबराकर उसने आंखें खोल दीं। उसे लगा जैसे उसने कोई पाप किया है, जैसे उसने किसी निर्दोष की हत्या कर डाली है... वह फुसफुसाया—'ऐसा तो कभी नहीं होता! मित्रों की बात तो माननी ही पड़ती है। सभी मानते हैं। वच्चे को स्कूल में दाखिल कराना हो, मकान किराये पर लेना हो, पुस्तक कोर्स में लगवानी हो, मुकदमे में न्याय करवाना हो, यहां तक कि किसी प्रमाण-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने हों तो यह सब मित्रों की सिफारिश से ही होता है। आखिर यह मेल-जोल, ये मित्र हैं किस दिन के लिए...!'

'पर यह सब बुरा है।'

'जिस काम को सब करते हैं, वह बुरा नहीं होता।'

'लेकिन सरला ने नहीं किया...'

'हां, सरला ने नहीं किया। क्यों नहीं किया? वह एक वार भी मेरे पास आती तो क्या उसे नौकरी न मिलती! वह कितनी योग्य है, कितनी -सौम्य! ...लेकिन वह आई क्यों नहीं! क्यों उसने अभिमान को

अपने ऊपर हावी होने दिया ! क्यों...क्यों...!

‘घोरजब उसने अभिमान किया है तो भुगते ! मुझे क्यों परेशान करती है !’

श्रीरघानन्द ने फिर नेत्र मूंदकर सरला से मुक्ति पानी चाही, पर सरला ने उसे पकड़ा कहा था जो मुक्ति मिलती ! वह तो स्वयं उसीकी श्रवचेतना थी जो उससे छल कर रही थी। इसलिए वह रात-भर लुका-छिपी का खेल खेलता रहा। सबेरे उठा तो भग-भंग दर्द कर रहा था। उमने किसीसे कुछ नहीं कहा। चुपचाप घूमने के लिए निकल पड़ा। कुछ देर चलने के बाद उसने अपने-आपको बहा पाया जहाँ एक शीर पचमंजरी मालीशान इमारतें खड़ी थी और दूसरी शीर, ठीक उनके पीछे वे गन्दे शीर बदबूदार मस्तबल थे, जिनमें आजकल धाड़ों के स्थान पर सम्य इन्सान रहते थे।

देखकर रघानन्द का मन भर आया। तोग उसी गन्दी शीर पानी से भरी सड़क पर सो रहे थे। कुछ साट पर थे, कुछ ठेलों पर। एक सुड़िया अपने जैसी ही एक आरामकुरसी पर सोने का नाटक कर रही थी। कुछ युवक सूखी जमीन पर एक-दूसरे में उलझे पड़े थे। न बिछावन, न झोडना, शरीर पर भी दूसरा वस्त्र नहीं। पास में ही गाय-भैंस शीर घोड़े पिछले दिन की थकान उतार रहे थे। उनसे बचता हुआ वह एक मस्तबल के सामने भा सड़ा हुआ। यही सरला का पता था...

सामने देखा—किवाड खुते हैं शीर अन्दर का सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कोई कमरा नहीं, परदा तक नहीं; पर ओ है उममे नियम है। सामान सक्षिप्त है, पर व्यवस्थित है। बीच में एक साट बिछी है, जिसपर एक पुरुष लेटा है। सामद पति है। उसीके पास फर्न पर सरला बैठी है। उसका एक हाथ पति के बध पर है, दूसरा एक शिशु की पीठ पर जो अपने तीन भाई-यहनों के साथ मां के पास घरती पर लेटा है।

रघानन्द का मन शीर भीग आया। वह खोया-खोया-सा आगे बढ़ा, तभी उसे लगा जैसे वे लोंग बाँटें कर रहे हैं। वह ठिठककर पीछे हट गया।

एक क्षण बाद पुरुष का निराशा से कांपता हुआ स्वर उसके कानों में पड़ा :

“तो यह स्थान भी नहीं मिला ?”

सरला बोली, “नहीं, नहीं मिला। आगा भी नहीं है।”

पुरुष ने जैसे पूरी बात नहीं सुनी, कहा, “मैंने पहले ही कहा था, पर तुम नुनो तब न ! बिना सिफारिश क्या कहीं कुछ होता है ?”

सरला बोली, “जानती हूँ, पर हमारा ऐसा कौन परिचित है जिसका प्रभाव उनपर पड़ सकता ! अब तो एक ही काम ही सकता है।”

पुरुष ने उठते हुए पूछा, “कौन-सा काम ?”

इस बार आनन्द ने दृष्टि चुराकर फिर भीतर भांका। देखा, पुरुष के मुख पर प्रभु की करुणा बरस रही है, नेत्र ऊपर को उठे हैं। वह कांप उठा—ओह, यह तो नेत्रहीन है...!

पुरुष फिर बोला, “तुम क्या करने को कहती हो ?”

सरला दो क्षण चुपचाप बैठी रही। तेजी से बेटे की पीठ पर हाथ फेरती रही। उत्तर न पाकर पुरुष ने अपने हाथ से सरला का मुंह टटोलना शुरू किया, टटोलता रहा, फिर फुसफुसाकर कहा, “कहो, क्या करने को कहती हो, मैं बुरा न मानूंगा।”

सरला के गले में बात रुकी थी। सहसा पति के मुंह की ओर मुंह उठाकर वह बोली, “कहती थी अब चिट्ठी से काम न चलेगा।”

“तो ?”

...

“बोलो सरला, बोलो !”

“मुझे शरीर का सौदा करने की आज्ञा दो। बोलो दोगे...?”

निमित्त-मात्र में यह भूकम्प जैसा स्वर आनन्द के कानों से होकर ठेक में व्याप्त हो गया और जब टूटे हुए गह की तरह वह वहां से भागा, गन्दे पानी के छींटों से विशाल अट्टालिकाओं की दीवारें गन्दी हो गईं, धरती पर सोए हुए स्त्री-पुरुष चीखकर उठ बैठे।

नाग-फांस

मुशील की मां अबसर कहा करती थी और अबसर क्या, भय तो कहने के लिए उसके पास एकमात्र यही कहानी दीप रह गई थी। लम्बी सांस खींचकर, गवं और वेदना-भरे स्वर में वह कहती, 'भगवान की कृपा से उसने चौदह पुत्रों को जन्म दिया था।'

सुनेवानियों की घातों में कौनूहल साकार हो उठता। कोई वाचाल पूछ बैठती, "चौदह पुत्र ! पर मांजी, भय तो केवल दो है।"

"हां, बेटी। देखने के लिए ये ही दो हैं। बैसे मेरे चार बेटे दिसावर रहते हैं।"

"भच्छा, कमाने के लिए गए हैं ?"

"हां, कमाने ही होंगे।"

"क्यों, कुछ भोजते नहीं ?"

"भोजना ! उर्हाने तो जाकर इपर देखा भी नहीं !"

"हाय रे ! कैसे बेटे हैं", वह वाचाल नारी कांप उठती, "पर मांजी, मुझे उनका पता तो होगा ?"

मुशील की मां उसी सहस्र वेदना-भरे स्वर में बोलती, "पता बतलाया ही नहीं तो कैसे जान सकती हू। वे चारों तो ऐसे गए कि जैसे थे ही नहीं।"

"शप ?"

“राम को प्यारे हुए ।”

“ओह...!”

“यया वनाजं, देटी । ये दो बने हैं । कुशल का स्वभाव भी ऐसा ही था—कई बार भागने को हुआ । पर उसपर मैंने बड़ी मिनतें मानीं, जात बोली, चढ़ाये चढ़ाए तब कही जाकर देवी की कृपा से रुका है ।”

इसपर प्रायः सभी नारियां उसे एक ही सलाह देतीं, “कुशल का विवाह कर दो मांजी । विवाह का बन्धन आदमी को बड़ा प्यारा लगता है । आजकल देर से विवाह करने की जो रीति चल पड़ी है उस कारण भी सत्ता हाथ से निकल जाती है ।”

सुशील की मां ने भी यही बात सोच रखी थी । उसके चारों बेटे सगाई कराने से पहले ही भाग गए थे । इसलिए कुशल की सगाई के लिए धूमधाम शुरू हुई । और एक दिन धूप-सी गोरी लड़की देखकर उसे तिलक चढ़ा दिया गया । फिर लगन आया और विवाह की तिथि निश्चित हो गई । कुशल ने एक बार भी आपत्ति नहीं की वल्कि सब काम प्रसन्नचित्त करता रहा । सुशील की मां को त्रिलोक का राज मिला । उसने सुशील के पिता से कहा, “यह दिन बड़े पुण्य से देखने को मिला है । मैं मन की निकालकर रहूंगी ।”

लाला चन्द्रसेन निम्न मध्यवर्ग के व्यक्ति थे । यही वर्ग अक्सर महा-पुरुषों को जन्म देता है । यही वर्ग बड़ी-बड़ी आशाओं और आकांक्षाओं को लेकर जन्म लेता है, परन्तु साधन के अभाव में घुटी हुई तमन्नाओं का मज्जार बनकर रह जाता है । यही है संघर्षों की क्रीड़ाभूमि और यहीं पर आदमी समझ से सम्पर्क स्थापित करता है । लाला चन्द्रसेन भी समझदार थे और इसी समझदारी को आगे बढ़ाने के लिए उनके पुत्रों ने घर की संकुचित दीवारें तोड़कर खुले विश्व में आश्रय लिया था । पुत्रों के जाने का दर्द उन्हें भी था, पर पुरुष थे, पिता थे । पत्नी की बात सुनकर वे हंसे, “मैं कब मना करता हूँ ।”

सच तो यह है उनके भीतर भी आकांक्षाएं आग्रह कर रही थीं । पहला

विवाह है, ऐसा ही जिते सब याद रखें। इसलिए उन्होंने घड़िया भरे-ठी बाजे का घाड़ें दिया। भोज की व्यवस्था देना की हालत को देखने हुए सीमित थी, परन्तु जितनी भी उमसे बड़े-बड़े धनियों को ईर्ष्या हो सकती थी। मोठी तस्तरों में बड़ी-बड़ी घाठ मिटाइयां। पूरे पाव-भर तोल की नमकीन तस्तरों। डालडा के युग में भी उन्होंने गांव-गांव घूमकर भी इकट्ठा किया था। वे कहते, "या तो करो नहीं। करो तो ऐसा करो कि याद ही घानी रहे।"

भोज का दिन आया। सब कुछ तैयार था। केवल साग बनने से धीरे-धीरे कचोरियां उतरनी थीं। मुह अंधेरे से ही हलवाईयों ने धीरे मचाया। अन्दर से धीरे भी वेग से हल्दी चढ़ाने का कोलाहल उठा। लाला जी ने आकर कहा, "धरे भई! क्या देर है? मसाला निकालो धीरे सबको साग काटने पर बैठा दो।"

उतने ही वेग से मुसील की भां पीली, "भजी कुशल को भेजो, हल्दी चढ़ानी है।"

"भो हो भाई, कितनी देर है?"

"देर कुशल की है। उसे भेजो, बस।"

'कुशल कहाँ है?' 'कुशल यहाँ था', 'कुशल वहाँ होगा' क्षण-भर में एक धीरे गगनभेदी कोलाहल उठा। ऐसा कि हल्दी धीरे हलवाई को आवाज उसमें डूबकर रह गई। उसीमें डूब गया कुशल। बहुत देर बाद पता लग पाया कि वह पिछली रात ही कहीं चला गया है। उसके बिस्तर पर एक पत्र पाया गया था। पढ़ने से पूर्व ही मा समझ गई कि कुशल भी भाइयों की राह का राही बना। वह रोई नहीं, एक मासू भी नहीं आया मांलों में। लोगों ने कहा, "दूड़ो!"

लाला चन्द्रसेन धीरे से बोले, "धयं है।"

"क्यों?"

"जो रहना नहीं चाहता उसे रोकने की चेष्टा करना उसे धीरे खीना है।"

मुनकर मन माझिल हो आए। वे जैसे धमने से बोले हैं, "मैंने गलती की जो उसे बाँधना चाहता। उससे कहा—बेटा ! तू भी जा, दुनिया को देना, पढ़ना। मेरा जो कर्ण था यह मैंने यथाशक्ति पूरा कर दिया। पान-योग गर्भे मोनने-मसभने योग्य बना दिया।"

मुशील की मां ने यह सब सुना तो तड़प उठी; बोली, "घातिर वे मुझारे ही बेटे तो हैं।"

"मेरे।" वे हँसे, "मेरा तो मैं भी नहीं हूँ। वे क्या होते।"

वहम आगे बढ़ी और घांमुशी की घवाप गनि में उसका अन्त हुआ। अन्त हुआ, यह कहना गलत है। अन्तिम छोर की तरफ़ उनका सबसे छोटा बेटा मुशील अभी पैदा था। पन्द्रह वर्ष का वह सुन्दर बालक मेव की तरह लाल और फूल की तरह गिला हुआ था। उसकी हंसी में सुगंध थी, पर बड़े भाई के तिलक के दिन उसे जो ज्वर चढ़ा था वह उतरने से बराबर इंकार कर रहा था। विवाह में लगे हुए परिवार में उसे कोई बहुत महत्व नहीं दिया गया पर अब जब हल्दी और हलवाई की बात फैलकर मिट गई तो मां ने सुशील की पट्टी का सहारा लिया। देखा—सन्ध्या होते-होते उसका सेव-सा लाल मुख अंगारे-सा दहक उठा है। आखें मुंदी जाती हैं।

तब पछाड़ खाकर मां ने डाक्टर का दामन पकड़ा, "डाक्टर, मेरा सब कुछ ले लो पर इसे बचा दो।"

सान्त्वना-भरे स्वर में डाक्टर बोला, "घबराइए नहीं ! बुखार है। वक्त पर उतरेगा।"

"उतर जाएगा ?" पागल-सी मां ने पूछा।

"हां, हां।"

"कब ?"

"यही सात-आठ दिन में।"

लेकिन आठ क्या, अठ्ठाईस दिन बीत जाने पर भी बुखार ने जाने का नाम नहीं लिया। एक बार बीच में लगा-सा था कि बुखार टूट चला है पर

तीसरे दिन ही उसने दूने वेग से धात्रमण कर दिया। मां रोने-रोते सजा-होन-सी हो गई। डाक्टर मनुष्य था, उसने मां की कठना को समझा। बोला, "मां ! यह बुखार दूर-दूर दिन तक चलता रह सकता है। उसकी दवा कुछ नहीं होती केवल रोगी की देखभाल से यह ठीक होता है।"

मां ने कहा, "भाप जैसे कहने हैं वैसे ही मैं करती हूँ।"

"ठीक है। धीरे धीरे करे जाइए। भाजकल में बुखार टूटने ही वाला है। प्रसन्न रहिए और रोगी को प्रसन्न रखाए, जानता हूँ यह कठिन है, पर यह भी जानता हूँ कि बेटे के लिए भाप सब कुछ कर सकती हैं। चार-पांच दिन की बात है।"

डाक्टर ने ठीक कहा था। पाचवें दिन बुखार टूट गया। गुनील ब्रिजना शरीर से स्वस्थ था, मन भी उसका उतना ही दृढ़ था। रग लौटते देर न लगी। मां का मन बिल-बिलत घाया। पिता की चिन्ता भी कम हुई। गुनील ने बीमारी में ही पिता से प्रतिज्ञा करवा ली थी कि स्वस्थ हो जाने पर उसे कालेज भेजेंगे। तो अच्छा होने-होने एक दिन उसने कहा, "पिता जी, कालेज गुलने को एक सप्ताह रह गया है, मेरी फीस भेज दो न।"

पिता ने जवाब दिया, 'कल शहर जाकर मैं सब ठीक कर आऊंगा।'

तब मां ने धीरे से इतना ही कहा, "बेटा ! पहले ठीक तो हो जा, फिर जाने की बात सोचना।"

गुनील मुस्काराया, "मां ! तुम सदा सँका करती रहती हो। मैं धन बिलकुल ठीक हूँ। देखना भगले सप्ताह कालेज जाऊँगा। डाक्टर साहब से पूछ देना..."

डाक्टर ने हँसते हुए उसका अनुमोदन किया, "हाँ, हाँ, तुम बिलकुल ठीक होकर एक सप्ताह में शहर जा सकोगे, परन्तु भोजन का विशेष ध्यान रखना होगा।"

"जी, मैं वही खाता हूँ जो भाप बताते हैं।"

"तुम सबकुछ एक भादस रोगी हो। तभी तो बार-बार रोग की

पल्लवक वृक्षों की जड़ी हों। हा, जब मैं तुम्हारे लिए टानिक लाऊंगा।”

मनुष्य का आचरण करो। फिर मुझा एक बेटो, “बन मुशील ! भगवान के लिए सब प्रयास करो। मरीजा न दे देंटना। ममभे, शरीर के मनु से ऐसी विचारों की रक्षा करो।”

जब तुम्हारे बेटे लिए दूरी गई थी, मम संभ पडे। पर अगले दिन मना-मन कल हुआ कि मरीजा ली न ली मुशील जाते से कापने लगा। ज्वर का आचरण ली मूला था; मायमान देता तो १०५ ! चिन्ता नुर डाक्टर ने लहा दे म मम मभीनगा मे जान ली, कहा, “इत बार टारफाड के माय मरीनगा भी है।”

आगत-ममभीर पिता ने उल्लेखित होकर पूछा, “डाक्टर, आखिर यह क्या है ?”

डाक्टर ने पिता के कानों को थपथपाया, “चिन्ता मत करो। सब कुछ ठीक होगा। दुःख इतना ही है कि मुशील महाशय अगले सप्ताह कालेज न जा सकेंगे।”

लगभग संज्ञाहीन होने पर भी कालेज का नाम सुनते ही उसने आंखें खोल दीं। बोला, “मैं कालेज अवश्य जाऊंगा। पांच-छः दिन की देर हो जाएगी तो क्या है ? पिताजी ! आप मेरी फीस अवश्य भेज दीजिए।”

पिता ने कहा, “भेज दूंगा, पर तुम्हें अपना ध्यान रखना चाहिए।”

मुशील ने नहीं सुना। वह बोला, “पिताजी ! मैं भी डाक्टर बनूंगा।”

“अवश्य बनना।”

आगे उससे बोला नहीं गया।

दिन पर दिन वह दुर्बल होता चला गया। सूइयों से उसका शरीर विध गया, कड़वी-तीखी दवाइयों से उसका मन चिड़चिड़ा हो आया, तो भी इक्कीस दिन के बाद जब उसका ज्वर उतरा तो उसने यही कहा, “दीवाली के बाद मैं कालेज जाऊंगा।”

“बेशक, तुम जा सकोगे,” डाक्टर ने कहा।

पिता गर्व से बोले, "परोधा-फल शानदार है तुम्हारा, प्रिंसिपल ने विश्वास दिलाया है कि तुम सब कमी पूरी कर लोगे।"

डाक्टर ने विजयी खिलाड़ी के स्वर में कहा, "विश्वाम में श्रद्धालु शक्ति होती है सुनील। मैंने बड़े-बड़े रोगियों को विश्वास के बल पर अच्छे होते देखा है।"

यही विश्वास सुनील की झाल बन गया। वह जिस तेजी से स्वास्थ्य-लाभ कर रहा था उसे देखे बिना विश्वास नहीं हो सकता। बस हर समय यही रट लगी रहती थी, "मैं कालेज जाऊंगा। मैं डाक्टर बनूंगा।"

मा कहती, "डाक्टर बनकर तू कहां जाएगा?"

"यहीं रहूंगा, मा।"

"इसी कस्ये में?"

"हां, मां। पास में बहुत गांव हैं। उनकी सेहत की देखभाल करना हमारा फर्ज है। उनकी सेहत ठीक न रहेगी तो देग की उन्नति कैसे होगी!"

मा सहमा कांपकर धोल उठती, "देग की चिन्ता करने से पहले अपने को तो देल।"

सुनील मुस्कराता, "मैं ही देग हूँ, मां।"

मा भवकचाली-बौकती, "भास्तिर तुम ये बातें कहां से सीखते हो?"

"तुमने।"

"मुझसे?"

"हां! तुम मां हो। तुमने ही तो हमारा निर्माण किया है।"

तब मा हार में फूटती, बिन्ता में दुबलती। देर तक एबान में बैठकर सोचती—'ये मेरे बेटे हैं, इनमें मेरा रक्त है पर मुझे तो ये बातें भाती ही नहीं। फिर मुझमें ये कैसे सीखते हैं? सीखते हैं तो मुझे छोड़कर क्यों चले जाते हैं? क्या सुनील भी चला जाएगा...क्या सुनील भी...सुनील जो मेरी भास्तिरी सन्तान है, मेरी भास्तिरी धारा है...।'

बट कापी...मिहर-मिहर उठी...तभी बिन्तीने जैसे कहीं भीतर से

पुकारा—“सुशील मे एक खबर है, पर सोचना नहीं, सोचना है...”

“हो, पर सोचना नहीं, सोचना है; पर सोचना ही बेसी ही बाने है—
देना...बादमी...मनोर धोरन जाने क्या-क्या...”

उस रात वह देन नव मती दिवा-नव देवनी रही। सुबेरे उठी तो देना—सुशील पादर हांमि वेटा है।

पुकारा, “सुशील !”

सुशील नहीं सोना। मसक आकर उसने पादर के भीतर हाथ डाला, जैसे अगार मे छु गया तो। वह कात्कर पीछे हट गई और भर्राए स्वर में कहा, “सुशील...सुशील ! !”

सुशील चौककर क्षीण स्वर मे बोला, “क्या है ?”

“कौसा जी है वेटा ?”

“शरीर जन रहा है। छाती में दर्द है। रात नीत लगा था।”

“छाती मे दर्द,” मा पागन-सी उसके पिता के पास दौड़ी, “देखिए तो सुशील को सूब बुखार चडा है। छाती मे दर्द है।”

जैसे वज्र गिरा हो ! पिता एकदम बोले, “क्या ?”

“बुखार !”

“बुखार ! बुखार किसको है ?”

मा ने किंचित् तेज होकर कहा, “जल्दी जाकर डाक्टर को बुलाओ ! सुशील की छाती में दर्द है और बुखार भी तेज है।”

डाक्टर आया। सूब जांच-पड़ताल के बाद उसने कहा, “निमूनिया है।”

“निमूनिया ! !”—पिता स्तब्ध रह गए।

“निमूनिया ?” मां को जैसे विश्वास नहीं आया।

फिर कई क्षण कोई किसीसे नहीं बोला। आखिर डाक्टर ने शिकायत के स्वर में कहा, “मैं कहता हूँ, क्या आप इसका विलकुल ध्यान नहीं रख सकते ? इसे सर्दी लगी है।”

रंभे स्वर में मां ने उत्तर दिया, “डाक्टर ! रात को बार-बार उठ-

कर मैं उसे काड़ा ओढ़ाती हूँ ।”

“देना कौन देता है ?”

“मैं देती हूँ ।”

“ठीक समय पर ?”

“आप मुसीबत से पूछ लीजिए ।”

डाक्टर ने दोनों हाथ हवा में हिलाए; कहा, “बुद्ध समय में नहीं आना । जैसे ही रोगी स्वास्थ्य-प्राप्त करता है, रोग उसे फिर भा दबोचता है । अच्छा, मैं वेन्सीलीन की सूइया लगाता हूँ ।”

कई दिन तक डाक्टर हर चार घंटे के बाद सूइया लगाता रहा । उन दिनों बेहोश-भी माँ ने न जाने कितनी निद्राहीन रातों बेटे के बिस्तर के पास बैठकर काटी । ऐसी देखाभाल की कि सब भ्रम-भ्रम कर उठे । पड़ो-मियों ने कहा, “माँ ऐमा न करेगी तो कौन करेगा और फिर वह माँ, जिसके बेटे एक के बाद एक उसे छोड़कर चले गए हैं ।”

“हा जी ! वह तो जान भी दे दे तो थोड़ी है उसके लिए ।”

“जान ही तो वह दे रही है ।”

“बेचारी ने पिछले जन्म में न जाने क्या पाप किए थे ?”

“पाप क्या जी, आजकल की तो ओलाद ही निराली है । कहते हैं, बेटा मा-बाप का नहीं होता, देश का होना है ।”

“हा जी ! यही बात है । मला कोई पूछे उनसे, तुम्हें पाल-पोसकर किसने बड़ा किया है, देश ने या माँ ने ? तुम्हारे गू-मूत किसने उठाए हैं, देश ने या माँ ने ?”

उनमें कुछ युवतियाँ भी थीं । एक युवती शहर में रहकर पढ़ी थी; वह बोली “और तो मैं कुछ नहीं जानती, पर आदमी होता देश के लिए ही है ।”

जैसे यह युद्ध की चुनौती थी । फिर तो घण्टों क्या दिनों यही चर्चा घर-घर और गली-गली वा विषय बनी रही । यहाँ तक कि मुसीबत फिर अच्छा होने लगा, पर देश और आदमी के रिश्ते का कोई निर्णय नहीं हो

गता। आगिर डाक्टर ने एक दिन सुशील के पिता को बुलाकर कहा, “इस बार सुशील की देखभाल विशेष धन से करनी होगी। यदि अब रोग ने प्रायमण कर दिया तो...”

डाक्टर ने जान-बूझकर वाक्य पूरा नहीं किया। लाला चन्द्रमेन बोले, “जानना हूँ डाक्टर, जानना हूँ।”

“यही समय है जब रोग प्रायमण करना है।”

“जी, हमने पूरी तैयारी कर ली है। बारी-बारी ने रात को जागने का प्रोचाम है, उसी एक भंगरी बदन को भी बुला भेजा है।”

क्षण-भर डाक्टर ने मूय्य में दृष्टिधान करके कहा, “दो-चार दिन में भी रटना चाहूंगा।”

“आप !”

“हां, मैं।”

करुण स्वर में लाला चन्द्रमेन बोले, “डाक्टर ! आपने क्या नहीं किया ! आपकी कृपा ने ही सुशील बार-बार मौत के मुंह जाकर लौटा है। आप अब...”

डाक्टर ने टोक दिया, “मैं रोगी का अध्ययन करना चाहता हूँ।”

“जी।”

“और वह भी कुछ दूर से।”

“आपका मतलब ?”

“मतलब यह है कि मैं आपके कमरे में रहकर सुशील की देखभाल करूंगा; और हां ! यह बात किसीने कहिए नहीं ! मां से भी नहीं।”

लालाजी का सिर चकरा उठा पहले तो, पर गर्व भी कम नहीं हुआ।

र आकर यह बात वह सुशील की मां से कहते-कहते तनिक ही बचे।

अ अ डाक्टर कहते थे...” इतना कह जैसे उन्हें होश आया। चुप हो गए।

सुशील की मां बोली, “डाक्टर क्या कहते थे ?”

“यही” उन्होंने कुछ याद करते हुए कहा, “कि मैं आज गांव जा रहा हूँ। सुशील को लौटकर रात के समय देखूंगा।”

फिर करुण स्वर में बोले, "कितना भला डाक्टर है।"

"भगवान का राग है", मां ने गद्गद स्वर में कहा, "हमें तो वही जिला रहा है।"

उमने यह बात सच्चे मन से बही थी। दोनो पति-पत्नी तब देर तक भले घादमियो की चर्चा करते रहे। फिर दिन बीत गया। थके हुए जीवन को सहलाने के लिए रात आ पहुंची। भयकार में दृष्टि नहीं है, पर शांति अवश्य है। उमने शान्त वातावरण में डाक्टर आए। मुनील को गुदगुदाया, हूगाया, क्या बताई और लोट गए। परन्तु अपने घर नहीं, पाग के कमरे में। साला चन्द्रसेन वहीं रहे, मा भी बही थी, मुनील को नींद आ गई। मा ने जैम्प बुझा दिया, दीवा जलता रहा। उमका घुघता पर शीतल प्रकाश तन-मन दोनों को सुखकारी था। कुछ देर में लाला चन्द्रसेन उठे, बोले, "जब तुम सोने लगे तो मुझे पुकार लेना।"

धीरे वे भी चले गए। धीरे-धीरे चारो ओर शान्ति छा गई। मुनील के पास बंटी मां की पलकें भारी हुईं और फिर झुक गईं। पर डाक्टर की घांसी में नींद नहीं थी। वे कभी कुर्सी पर बैठे रहते, कभी टहलते, कभी धीरे से मिटकी में से देख लेते। लावाभी उत्सुक उत्तेजित उन्हें देखने और पूछ बैठते, "डाक्टर ! कोई बात देखो ?"

डाक्टर मुस्कराता—"माप चिन्ता न करें।"

धीरे फिर सन्नाह; बिमीके ललारने और चलने का शब्द; दूर वहीं गोरदो की हू-हा, धीरे फिर मौन; डाक्टर की धीमी पदचाप; फिर एका-एक बही कुर्सी की भौं-भौं। दीवार की पड़ी में दो बजा दिए। तभी सहसा डाक्टर चौक उठे। उन्होंने धीरे से लालाजी को जगाया, "हां-हां, बोलिए नहीं ! घुपचाप मेरे दोखे गिटकी के पान चले आएं।"

"क्या है ?"

"या आइए घुपचाप।"

दोनो ने हतप्रभ देखा—घुघने प्रकाश में एक मूर्ति धीरे-धीरे मुनील की रात के पास पहुंची है। उसने कई क्षण घुपचाप मुनील के मुख को देखा,

अच्छा संबंध हो गया, पर उसके पति से नौ देर तक नहीं मिल सका। वह सरकार के किसी विभाग में एक बड़े अफसर में। सबेरे कार में बैठकर जाते थे और घबेरा होने पर लौटते थे। दूर होने के कारण लव वगैरह का प्रबंध भी उन्होंने दफ्तर के पास ही कर लिया था।

पर एक दिन अचानक उनमें भेंट हो ही गई। रश्मि, धुल्ले और मैं बैठे चाय पी रहे थे कि वह आ गए। रश्मि सहसा हड़बड़ाकर उठी। यह मक्ष एक क्षण से भी कम समय में हुआ, क्योंकि जब वह बोली तब उसका स्वर बिलकुल अस्वाभाविक था। उसने कहा, "आ गए?"

"हां, कुछ जल्दी लौट आया।" कहकर उन्होंने एक उज्जती नजर मक्ष-पर डाली, मुझपर झटक गए।

रश्मि बोली, "प्रदीप है।"

मुनकर सहसा उनके कंधे पर अनेक रग आए और गए।

पर वह तुरन्त ही बोले, "तो आप हैं प्रदीप?"

और फिर दृढ़ता से आगे बढ़कर उन्होंने मेरा हाथ झुंझ-सा डाला, "तो आप प्रदीप हैं! मिलकर खुश हुआ, बहुत खुश! भाग्यशाली हो दोस्त! यहा तो सरकारी मालगाड़ी के डिब्बे हैं। आप हैं कि जीते हैं।"

और मुझे कुछ भी कहने का अवसर न देकर वे बाहर जाने की मुझे। रश्मि ने कहा, "चाय नहीं पियोगे?"

"नहीं।"

"प्रदीप क्या कहेंगे? कहा जा रहे हो?"

"प्रदीप कलाकार हैं। वह हमारी दुनिया के इन छोटे-छोटे सिप्टा-चारों की चिन्ता नहीं करेंगे।"

और वह चले गए। जैसे धुएं का एक बादल उमड़ा और एक घुटन छोड़कर चला गया। अच्छा नहीं लगा, पर रश्मि धी कि हूं पड़ी, "गजे-टिठ आफिसर है। अपना स्वभाव कैसे छोड़ें? अपनी करेंगे।"

कुछ देर बाद मैं भी चला आया और फिर कई दिन तक रश्मि से नहीं मिला। जान बुझकर टालता रहा, पर एक दिन वह अचानक दफ्तर

फिर नूना, फिर धीरे-धीरे कांपते हाथों से चार उधार दी। सुशील एक चार गांवा, फिर पैरों को पेट में समेट लिया। छाया-मूर्ति पीछे हटी। मेज पर दवा की शीशी रखी थी, उसे उठाया और उसे निममनी में फेंक दिया।

निमननिमन-गा डाक्टर बोला, "दिना?"

चन्द्रसेन सड़े, "डाक्टर! यह तो सुशील की मां है।"

"हां! आउए!"

"डाक्टर, मैं...मैं..."

"आउए।"

डाक्टर ने आगे बढ़कर नहज भाव में किचाउ खोले और सुशील के कमरे में चले आए। छाया-मूर्ति ने सहना मुड़कर देखा, उसके मुंह से एक चीख निकली—"आप...आप...!"

और वह तीव्र वेग में कांपती हुई पीछे हटी, हटती गई; कांपती गई और फिर लड़पड़ाकर गिर पड़ी। लाला चन्द्रसेन उधर दौड़े, इधर डाक्टर ने सबसे पहले खिड़की बन्द की। फिर सुशील को कपड़ा उड़ाया। तब सुशील की मां की और भुके। वह बेहोशी में वड़वड़ा रही थी—"सुशील अच्छा हो रहा है...वह कालेज जाएगा—डाक्टर बनेगा...और फिर नहीं लौटेगा...उसके भाई भी नहीं लौटे थे...नहीं, नहीं, वह शहर नहीं जा सकता...वह मुझे नहीं छोड़ सकता..."

डाक्टर ने सुना, पिता ने सुना, दोनों ने एक-दूसरे को देखा। पिता सिर से पैर तक सिहर उठे, मुंह से इतना ही निकला, "डाक्टर...!"

डाक्टर ने गम्भीर स्वर में कहा, "मुझे यही डर था।"

"मां का स्नेह पुत्र का काल बना हुआ है डाक्टर।"

सहसा डाक्टर का स्वर कठोर हो उठा, उन्होंने कहा, "स्नेह नहीं, यत्न ही स्वार्थ है; जो प्रतिक्षण मनुष्यता की हत्या करता रहता है।"

चार कोई उत्तर नहीं दिया। मां का स्वर निरन्तर रहा था, इतना कि मात्र फुसफुसाहट शेष रही थी और सुशील—शान्त, निर्द्वन्द्व।

शरीर से परे

प्रदीप

रश्मि मुझसे पहली बार कप मिली यह आज मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। शायद वह नदी-किनारे किसी पिकनिक पार्टी में मिल गई थी। तब उसके साथ उसका छोटा बेटा था। मेरी ओर सचेत करते हुए रश्मि ने उससे कहा था—“देखो, वह प्रदीप है, जिनका मैं तुमसे ज़िगर किया करती हूँ।”

यह बात मैंने चतते-चलते सुन ली थी और तब मैंने उसे कुछ ओर ले देना था। प्रथम दृष्टि में उसे गुन्दर करना बीसवीं सदी के सौंदर्य का अपमान हो सकता है। हाँ, यदि किसीके पास दूसरी दृष्टि हो, तो वह निरगन्धेह रूपयती थी। उसके पल्ले छोठे पर ओर काली धाँसो में एक गुसमान थी जो नितान्त स्वाभाविक थी—जैसे एक प्रेमिल ज्योति से उसका मुख सदा देदीप्यमान रहता था। मुझे यह भी याद है कि तब उगने साड़ी पहन रखी थी और उसकी चाल-ढाल में स्वाभाविक झलकता थी। पल्ला जब अपने स्थान से हट जाता था तब वह उसे बार-बार उठाकर, अतिशय आगहक नारी की तरह इधर-उधर नहीं देखती थी, बल्कि जापरवाही से उसे ऊपर फेंककर बातों में व्यस्त हो जाती थी।

१५६ मेरी प्रिय कहानियाँ

फिर नूना, फिर धीरे-धीरे कांपने लग्यो से चार उतार दी। सुशील एक बार खाता, फिर पैरों को पेट में समेट लिया। छाया-मूर्ति पीछे हटी। मेज पर दवा की बीजी रखी थी, उसे उठाया और उसे चिलमची में फेंक दिया।

निष्पत्ति-ना डाक्टर बोला, "देगा?"

चन्द्रसेन तर्क, "डाक्टर ! यह तो सुशील की मां है।"

"हां ! आह !"

"डाक्टर, मैं...मैं..."

"आह !"

डाक्टर ने आगे बढ़कर सहज भाव से किवाट खोले और सुशील के कमरे में चले आए। छाया-मूर्ति ने सहसा मुड़कर देखा, उसके मुंह से एक चीख निकली—"प्राप...प्राप...!"

और वह तीव्र वेग ने कांपती हुई पीछे हटी, हटती गई; कांपती गई और फिर लड़खड़ाकर गिर पड़ी। लाला चन्द्रसेन उबर दौड़े, इधर डाक्टर ने सबसे पहले खिड़की बन्द की। फिर सुशील को कपड़ा उड़ाया। तब सुशील की मां की ओर भुके। वह वेहोशी में बढ़वड़ा रही थी—"सुशील अच्छा हो रहा है...वह कालेज जाएगा—डाक्टर वनेगा...और फिर नहीं सौटेगा...उसके भाई भी नहीं लौटे थे...नहीं, नहीं, वह शहर नहीं जा सकता...वह मुझे नहीं छोड़ सकता...!"

डाक्टर ने सुना, पिता ने सुना, दोनों ने एक-दूसरे को देखा। पिता सिर से पैर तक सिहर उठे, मुंह से इतना ही निकला, "डाक्टर...!"

डाक्टर ने गम्भीर स्वर में कहा, "मुझे यही डर था।"

"मां का स्नेह पुत्र का काल बना हुआ है डाक्टर।"

सहसा डाक्टर का स्वर कठोर हो उठा, उन्होंने कहा, "स्नेह नहीं, यह मनुष्य का स्वार्थ है; जो प्रतिक्षण मनुष्यता की हत्या करता रहता है।"

पिता ने इस बार कोई उत्तर नहीं दिया। मां का स्वर निरन्तर शिथिल हो रहा था, इतना कि मात्र फुसफुसाहट शेष रही थी और सशील सो रहा था—शान्त, निर्द्वन्द्व।

शरीर से परे

प्रदीप

रश्मि मुझमें पहली बार कब मिली यह आज मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। शायद यह नदी-किनारे किसी विक्रमिक पार्टी में मिला गई थी। तब उसके साथ उमका छोटा बेटा था। मेरी ओर संकेत करते हुए रश्मि ने उससे कहा था—“देखो, वह प्रदीप है, जिनका मैं तुमसे जिकर किया करती हूँ।”

यह बात मैंने चलते-चलते सुन ली थी और तब मैंने उसे कुछ गौर से देखा था। प्रथम दृष्टि में उसे सुन्दर कहना बीसवीं शताब्दी के सौंदर्य का ध्येयमान हो सकता है। हाँ, यदि किसीके पास दूसरी दृष्टि हो, तो वह निस्सन्देह रूपवती थी। उसके पतले घोठों पर और काली घाँसों में एक मुसकान थी जो नितान्त स्वाभाविक थी—जैसे एक प्रेमिल ज्योति से उसका मुख सदा दीप्यमान रहता था। मुझे यह भी याद है कि तब उसने साड़ी पहन रखी थी और उसकी चाल-ढाल में स्वाभाविक प्रहृष्टता थी। पलना जब धपने स्थान से हट जाता था तब वह उसे बार-बार उठाकर, प्रतिशय जागरूक नारी की सरह इधर-उधर नहीं देखती थी, बल्कि सापरवाही से उसे ऊपर फेंककर बागों में ध्यस्त हो जाती थी।

दूसरी बार रश्मि मुझे अचानक सड़क पर मिल गई। दूसरी बार मैं केवल आपके सुभिते के लिए कह रहा हूँ। बरना इन मुलाकातों के गणित के बारे में मैं बिलकुल सही होने का कतई दावा नहीं करता। वह सड़क-वाली मुलाकात काफी लम्बी हो गई थी। तब वह अकेली थी और मुझे भी कोई विशेष काम नहीं था। वार्ते क्या-क्या हुई; उसका व्योरा मेरे पास नहीं है, पर उस दिन ज्यादातर बोलने का काम उसीने किया था। मैं तो लगभग सारा समय उसके मुख को ही देखता रहा था। न जाने कौन-सी बात के बाद उसने कहा था, “मैं तुम्हें युग-युग से जानती हूँ।”

मैंने कहा, “मुझे तो याद नहीं पड़ता कि हम कभी मिले हों।”

वह बोली, “किसीको जानने के लिए क्या उससे मिलना जरूरी है?”

मैंने सहसा कुछ नहीं कहा, वह बोली, “बताओ न?”

मैंने उसे देखते हुए कहा, “नहीं, कोई जरूरी नहीं।”

तब वह हंस पड़ी थी और उसने कहा था, ‘तुम्हारी सब रचनाएं पढ़ चुकी हूँ और मैंने ऐसा महमूस किया है कि जैसे तुम्हारी कलम के साथ मेरा तादात्म्य भाव रहा है।’

“मैं भाग्यशाली हूँ,” मैंने मुस्कराकर कहा।

वह बोली, “शिष्टाचार की भाषा बड़ी कृत्रिम होती है और मैंने कहीं पढ़ा है कि कृत्रिम और कुरूप परस्पर समान हैं।”

इस चोट से मैं तिलमिला उठा था, पर फिर भी उसे पीकर मैंने कहा था, “तुम बहुत पढ़ती हो?”

“ऊँ हूँ। पढ़ने लायक बहुत कहीं मिलता है। बहुत कुछ तो दाल पर के उफान की तरह का होता है।”

लेकिन उस दिन की एक खास बात जो मुझे याद है वह यह है कि बातों के बीच मैं अचानक वह हड़बड़ाकर बोली, “ओह, देर हो गई। वह राह देखेंगे।”

और फिर हंसती हुई वह जैसे आई थी वैसे ही चली गई। उसके बाद अक्सर मिलते रहे। मैं उसके घर भी गया। उसके बच्चों से मेरा

अच्छा संबन्ध हो गया, पर उसके पत्रों से मैं देर तक नहीं मिल सका। वह सरकार के किसी विभाग में एक बड़े अफसर थे। सवेरे कार में बैठकर जाते थे और अचानक होने पर लौटते थे। दूर होने के कारण लख बर्गरह का प्रबन्ध भी उन्होंने दफ्तर के पास ही कर लिया था।

पर एक दिन अचानक उनसे भेंट हो ही गई। रश्मि, बच्चे और मैं बैठे चाय पी रहे थे कि वह आ गए। रश्मि सहसा हड़बड़ाकर उठी। वह सब एक क्षण से भी कम समय में हुआ, क्योंकि जब वह बोली तब उसका स्वर बिलकुल अस्वाभाविक था। उमने कहा, "आ गए?"

"हां, कुछ जल्दी लौट आया।" कहकर उन्होंने एक उड़ती नजर सब-पर डाली, मुझपर घटक गए।

रश्मि बोली, "प्रदीप हैं।"

सुनकर सहसा उनके केहरे पर अनेक रंग आए और गए।

पर वह तुरन्त ही बोले, "तो आप हैं प्रदीप?"

और फिर दृढ़ता से आगे बढ़कर उन्होंने मेरा हाथ भँभोड़-सा डाला, "तो आप प्रदीप हैं! मिलकर खुश हुआ, बहुत खुश! भाग्यशाली ही दोस्त! यहाँ तो सरकारी मालगाड़ी के डिब्बे हैं। आप हैं कि जीते हैं।"

और मुझे कुछ भी कहने का अवसर न देकर वे बाहर जाने को मुड़े। रश्मि ने कहा, "चाय नहीं पिओगे?"

"नहीं।"

"प्रदीप क्या कहेंगे? कहा जा रहे ही?"

"प्रदीप कलाकार हैं। वह हमारी दुनिया के इन छोटे-छोटे दिग्दा-धारों की चिन्ता नहीं

और

एक बादल उमड़ा और एक घुटन-गा, पर रश्मि भी कि हंस पड़ी, "गजे-जिव कैसे छोड़ें? अपनी करें।" माया और फिर कई दिन तक रश्मि से रहा, पर एक दिन वह अचानक दफ्तर

“अरे भाई, भाई, ‘उठो, नदी बहाव हो?’”

“उठो, नदी बहाव।”

“अरे भाई, भाई।”

“उठो।”

“अरे भाई है ही। नदी है ?”

“है।” — जैसे सहसा मुस्कराकर कहा।

कहकर वह क्षणिक स्वभाव को विनयित हो क्षण नुन रही, फिर बोली, “तो देई नदीका इतना ध्यान क्यों करता है ?”

जैसे सहसा उसे देखा। वह नहीं तरह मुस्करा रही थी, पर जैसे आज वह कुछ-कुछ चरम हो। जैसे कहा, “तो ध्यान करने वाला है वही इस बात को जानता है।”

“सा, वह नहीं जानता।”

“तो शायद वह ध्यान नहीं करता।”

“अब ध्यान के लिए उसके कारण का ज्ञान जरूरी है ?”

जैसे धरदाकर कहा, “रहित, ज्ञान जरूरी न हो, पर होता तो वह जरूर है।”

“होता है, पर क्या उसे जानना जरूरी है ? यह मैं तुमसे पूछती हूँ।”

“शुभो, इसका जवाब एकाएक नहीं सूझता।”

“जिसा धरदार होता है, पर जब तूम कोई कहानी लिखोगे, तब इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारी कलम की नोक पर ऐसे ही आ जाएगा जैसे सूर्योदय होते ही प्रकाश फूट पड़ता है।”

“उठो, नहीं घूम आएँ।”

“उठो, नहीं घूम आएँ।”

“उठो, नहीं घूम आएँ।”

“उठो, नहीं घूम आएँ।”

“उठो, नहीं घूम आएँ।”

क्रिया पर जैसे ही मैंने उसे मुक्त किया वह द्रवित होकर बोली, "यह तुमने क्या किया?"

"मैं स्वयं नहीं जानता।"

"नहीं, नहीं," उसने और भी विह्वल होकर कहा, "मुझे अपने से दूर मन करो।"

"क्या कहती हो?"

"कहती हूँ, अब क्या इज्जत रहेगी मेरी, तुम्हारी दृष्टि में?"

और वह तीव्र गति से कांपने लगी। उसका मुख विवर्ण हो गया। नेत्रों की ज्योति फीकी पड़ गई और उसने सहारे के लिए धरती पर जोर से हाथ दबाया। मैं इतना घबरा उठा कि न तो चिल्ला सका, न उसे छू सका। पर कुछ ही क्षण में वह शान्त हो गई और स्वाभाविक स्वर से बोली,

"मैं तो सदा तुम्हारे साथ रहती हूँ। तुमने मुझे दूर क्यों समझा प्रदीप? मैं तुम्हें चाहती हूँ, शरीर को नहीं। शरीर तुम नहीं हो।"

जैसे सहस्र विच्छिद्रों ने एक साथ काटा हो, मैंने चीखकर कहा, "रश्मि तुम इतनी रहस्यमयी हो?"

"कहा, प्रदीप? मैं मन्दिर में पूजा के प्रदीप कहा जलाती फिरती हूँ। मैं तुम्हें चाहती हूँ, केवल तुम्हें!"

"और अपने पति को नहीं?" मैं कुछ कठोर दम्भवत् चिल्लाया।

"पति को चाहती हूँ। वह तो कर्तव्य है। उसकी मैंने प्रतिज्ञा ली है।"

"उस कर्तव्य में क्या प्रेम की शर्त नहीं है?"

"है, पर निस्सीम स्वार्थ ने उसे सीमित कर दिया है। प्रेम जब सीमा का बंधन स्वीकार करता है तभी वह कर्तव्य बन जाता है। और फिर तुम क्या वही चाहते हो जो स्वामी को दे चुकी हूँ? देवता पर क्या निर्मल्य्य श्रद्धा जाता है?"

मैं कई क्षण चुप रहा। वह मुझे देखती रही। मैंने कहा, "तुम मेरे पान मत छाया करो।"

"नाराज होकर कहने हो या प्रेम से?"

“तुम्हें तुमसे प्रेम करने का कोई हक नहीं है। तुम्हारे पति हैं और वह यह ईर्ष्या क्यों करे ?”

“तुम्हें भोग का हक है प्रदीप ?”

“क्या वह ईर्ष्या नहीं करती ?”

“देखते हैं।”

“फिर ?”

“फिर भी मैं उन्हें प्यार करती हूँ।”

“रहित !”

“प्यार करती हूँ। मैं उन्हें प्यार करती हूँ। बेशक वह ईर्ष्या करते हैं, क्योंकि उनमें स्वामित्व की भूग है, पर प्रदीप, उनमें शरीर की भूख नहीं है। शरीर उनका है पर वह भूगे नहीं हैं।”

“क्या कहती हो ?”

“जो कुछ कहती हूँ वह तुम समझते हो।”

मैंने पूछा, “तुम्हारे पति को पता लग जाए कि तुम यहाँ आती हो, तो क्या हो ?”

“पता क्या नहीं लगता ? वह टोह में रहते हैं और जब पूछते हैं तब मैं छिपाती नहीं।”

“फिर ?”

“फिर क्या, युद्ध होता है। कई दिन वह खानान ही खाते। मैं भी नहीं खाती, पर फिर सब ठीक हो जाता है।”

“ऐसा अक्सर होता है !”

“अक्सर।”

“फिर तुम आती क्यों हो ?”

“पता नहीं।”

“यह क्या मोह नहीं है ?”

उसने मुझे देखा। क्या बलाऊँ वह कैसी दृष्टि थी। कई क्षण तक देखती रही, देखती रही। फिर वह सहसा उठ खड़ी हुई, हँसी और बोली,

“मोह ! वह भानेवाले होंगे, जानी हू ।”

बहुत दूर हम साथ-साथ चले, मौन । फिर एक नियत स्थान पर आकर उसने हाथ जोड़कर गहरे स्वर में कहा, “मच्छा ।” और वह चली गई । देर तक वह ‘मच्छा’ शब्द मेरे हृदय का मन्थन करता रहा और देर तक उसके बारे में सोचना हुआ मैं उठी तरह चतता रहा ।

रश्मि

उस दिन सारे रास्ते सोचती गई कि इस मोह ने मुझे कैसे जकड़ रखा था ? प्रेम का दावा कितना भूठा था ? मुझसे तो मेरे पति ही सत्य के अधिक पास हैं । पति का ध्यान आते ही मुझे वे दिन याद आ गए जब वह मुझसे विवाह करने की प्रार्थना करने आया करते थे । वह लम्बे-लम्बे पत्र लिखते थे पर मिलने पर कुछ नहीं कहते थे । बस भ्रमला पत्र पहुंचाने का स्थान बताकर चले जाने थे । शादी हो जाने के बाद भी वह ऐसे ही रहे । वह कहते कुछ नहीं थे । उन्हें समझना होता था, पर मैं उन्हें कैसे बताती कि मुझे भी कोई समझ पाता । देव-मुन सब सकते हैं, पर समझने के लिए जो हृदय चाहिए वह हरएक के पास नहीं होता । पर सारा दोषारोपण उन्हींपर कैसे करू ! मुझे स्वीकार करना होगा कि उन्होंने मुझे अपने बच्चे की मां तो बनाया, पर कभी विलास की सामग्री नहीं माना । घर की स्वामिनी बनाकर जैसे उन्होंने छूट्टी ले ली । विश्वास की इतनी निधि उन्होंने मुझे दी, पर नारी को क्या केवल यही विश्वास चाहिए ?

मैं इसी तरह सोचती जा रही थी कि घर आ गया । देखती क्या हूँ कि वह बरामदे में टहन रहे हैं । मैं जैसे ही ऊपर चढ़ी, वह बोले “रश्मि !”

“जी ।”

“धूमने गई थी ?”

“जी ।”

“प्रदीप के साथ ?”

“जी ।”

१६४ मेरी प्रिय कहानियाँ

“फिर उसे छोड़ कहां आये ?”

“वह अपने घर गए ।”

“और तुम ?”

“मैं अपने घर आ गई ।”

“यह तुम्हारा घर है ?”

“जी हां ।”

वह सहसा तेज हो उठे, “दुष्टा ! दूर हो जा मेरी आंखों के सामने से । यह तेरा घर नहीं है । मैं तुम्हें अन्दर नहीं आने दूंगा ।”

मैं ठिठकी नहीं, बढ़ती चली गई । वह रोकने को आगे बढ़े, पर मैंने दरवाजा खोल लिया, और कहा, “देर हो गई, अन्दर आ जाइए ।”

“मैं कहता हूं, जाओ ।”

“कहां जाने को कहते हो ?”

“प्रदीप के पास ।”

“मैं उनके पास कभी नहीं जाऊंगी ।”

“आज तक जाती रही हो, झूठ बोलती हो ?”

“झूठ नहीं बोलती । आज तक जाती रही हूं, पर आज पता लगा कि वह गलती थी ।”

“क्या, क्या ?” वे जैसे निरस्त्र हुए ।

“मैं आज के वाद उसके पास नहीं जाऊंगी ।”

“नहीं जाओगी ?”

“नहीं ।”

“रश्मि ।”

“विश्वास नहीं आता ?”

“नहीं ।”

“तुमने मेरा विश्वास किया ही कब है जो आज करोगे ।”

“मैंने तुम्हारा विश्वास नहीं किया ?”

“ईर्ष्या करनेवाले विश्वास कैसे कर सकते हैं ?”

“रदिम !” वह कांपे। वह अब तक किवाड़ पकड़े खड़े थे। आवेश का उफान अब उतर चला था। उन्होंने किवाड़ छोड़ दिया और फिर बेंत उठाकर बाहर उतरे चले गए। मैं कांपकर बाहर आई। पूछा “कहाँ जाते हो ?”

कोई जवाब नहीं मिला।

“मैं भी घा रही हूँ।” घोर मैं पीछे-पीछे चली। कुछ दौड़ना पड़ा। फिर पास आकर वगल में चलने लगी। पर उस रात मैं उन्हें मना न पाई। हम शीघ्र लौटे और बिना खाए-पिए सो गए। चार दिन तक वह मुझसे नहीं बोले। पाचवें दिन एक ऐसी घटना हो गई जिससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई। मेरा छोटा देवर मेरे लडके दोसर के साथ खेल रहा था। अचानक क्या देखती हूँ कि दोसर चीखता हुआ भा रहा है। मेरे भीतर जो मा थी वह तड़प उठी। मैंने पूछा, “क्या हुआ ?”

“चाचा ने मारा। हमारी बारी थी, बारी नहीं दी। फिर मुझे मारा।”

बच्चे के गालों पर खून चमक आया था। मैं जैसे पागल हो उठी। मैंने देवर को आड़े हाथों लिया। वह भी खूब बोला। वह एक घसीभनीय बात थी, पर हो गई। घर में चूल्हा तक न जला। वह दोसर को प्यार करते थे— भाई की नसों में भी बही रक्त था जो उनकी नसों में था। सब कुछ मुनकर वे गम्भीरता से सोचते रहे, फिर उन्होंने मुझसे इतना ही कहा, “तुम्हारा मोह इतना कड़वा है ?”

जो बात मुझे कचोट रही थी वही हुई। वह मुझपर गुस्सा नहीं हुए। बस इतना कहकर मुड़ चले।

एक

बोली,

“मुझे क्या हुआ, मैंने झपटकर उनका हो गई।”

नहीं मालूम कि दोनों भाइयों में। जी में आया, जाकर अभी दन तक रुठा रहा। मैंने माफी। पीछे पड़ी हो ? घाप ठीक

हो जाएगा।”

उस घटना के बाद मेरी उनसे मुलाहत् हो गई। वह मुलाहत् काफी लम्बी रही क्योंकि अब मैं अक्सर घर रहती थी। यद्यपि मेरा अधिक समय किताबों के साथ बीतता था, पर मैं उनके आने पर तथा बरामदे में मिलती थी। एक दिन ऐसा हुआ कि मैं उन्हें बताने नहीं मिली। वह सीधे मुझे ढूँढ़ते हुए पुस्तकालय में पहुँच गए। मैं पढ़ रही थी। बोले, “क्या पढ़ रही हो?”

“प्रदीप का नया उपन्यास है।”

“प्रोह...।”

“बहुत सुन्दर है। एक नारी का चित्रण है जो...।”

“समझता हूँ, तुम्हारा होगा।”

उनकी वाणी में काफी तलवार थी, पर उधर ध्यान न देकर मैं चिल्ला उठी, “तुम कैसे जानते हो? क्या तुमने पढ़ा है?”

“किसीको जानने के लिए उसकी हर पुस्तक पढ़ना जरूरी नहीं। प्रदीप तुम्हारे अतिरिक्त और किसीका चित्रण नहीं कर सकता।”

“सच कहते हो। उसके प्रत्येक शब्द में मैं रहती हूँ। उसकी प्रत्येक भावना में मैं साँस लेती हूँ। उसके प्रत्येक विचार में मैं जीती हूँ। कहते-वहते मैं जैसे खो-सी गई। देखा तो वह तिलमिला रहे थे। उन्होंने तेजी से कुरसी को धक्का दिया। मेज पर का फूलदान नीचे गिरकर खोल-खोल हो गया। जैसे यही कम न हो, वह तेजी से बूटों की आवाज करते और किवाड़ खड़खड़ाते बाहर चले गए। मैं जैसे जागी, पीछे दौड़ी, “क्या हुआ? सुनो तो, पूरी बात तो सुनो।”

“नहीं, नहीं, नहीं।”

“सुनो।”

“मुझे कुछ नहीं सुनना, मुझे कुछ नहीं सुनना।” उन्होंने चीखकर कहा। “तुम मुझे धोखा देती रही हो, तुम मुझसे छल करती रही हो। तुम उससे प्रेम करती हो, तुम उसे चाहती हो।”

“सुरेश, सुरेश!” मैंने नाम लेकर पुकारा। गजेटिड आफिसर की

पत्नी होने के बावजूद मैं कभी उनका नाम नहीं लेती थी। वह बार-बार मेज पर सिर पटक-पटककर बोले, "तुम मुझे नहीं चाहती। नहीं, नहीं..."

"क्या करते हो?" मैंने उन्हें मममाया, "बच्चे क्या कहेंगे?"

"बच्चे?" उन्होंने दात भीचे, "बच्चे सब कुछ जानते हैं। वे मेरे नहीं हैं।"

"मुरेश!" मैंने चीखकर कहा, "नहीं, नहीं, तुमने यह नहीं कहा।"

"मैंने कहा है। मैं कहता हूँ। बच्चे मेरे नहीं हैं, नहीं हैं।"

मैंने किसी तरह अपने को सभालकर कहा, "मुरेश, तुम श्रविस में हो। फिर बातें कर्हंगी।"

उन्हें ऐसे ही छोड़कर मैं बाहर भाई। क्या देखनी हूँ कि प्रदीप खड़ा है। गुस्सा घाना चाहिए था, पर हुआ यह कि मैं मुस्करा उठी, "तुम?"

प्रदीप ने कहा, "जाता हूँ।"

और वह मुड़ते बने गए। मैंने पीलकर पुकारना चाहा, हाथ भी उठाया पर न मैंने पुकारा न वह रुके। मैं अन्दर दौड़ी बती गई। मैंने मुरेश से कहा—"सुनते हो, प्रदीप भाए थे।"

पर मैं देर से पशुची। मुरेश के हाथ में प्रदीप का पत्र था। उसमें लिया था—

"प्रिय मित्र,

"शेद है, मेरे कारण आपके शान्त जीवन में तूफान घा गया है, पर बिरास करिए मैंने इसे बभी नहीं चाहा। जहां तक जान सका हूँ रशिम भी नहीं चाहती। फिर भी वह है तो। मैं आज यह कहने आया था कि मैं बल यह नगर छोड़ रहा हूँ। पर जो देखा उसमें सादस नहीं हुआ। सो तिनकर प्रणाम करता हूँ।

भापका मित्र—

प्रदीप"

पत्र लेने पर दोनों में कोई वाज नहीं हो सकी, पर तनाव भाप ही

याप हीना पड़ गया। मुझे नो रिमा लगना रहा जैसे प्रदीप लोटकर आ रहे हैं। जहाँ भी मैं गट्टे में उनको हूँसी सुनी। उनका सीम्य-जान्त मुग देगा। उनकी प्रेमिन याँनों की भाँकते पाया। नगा जैसे वह कहीं से निकल आए है, पर वह नय अन्दर की बाव है। बाहर तो वह सचमुच चले गए थे योर इसीलिए जान्त मन काम करती रही। सवेरे जब गाड़ी का वक्त होनेवाला था मैंने प्रदीप को स्टेशन जाने, टिकट सारीवने और गाड़ी में चढ़ते देखा। वह जैसे वर्ष पर बैठकर कहीं दूर गयो गए हैं। निश्चय ही वह मेरे बारे में सोच रहे थे। न नोचने तो जाते कैसे! उमी समय मुरेश तेजी से आए, कहा, “रश्मि, तुम स्टेशन चलना चाहोगी?”

मुझे ताज्जुब हुआ, योली, “क्यों?”

“शिष्टाचार के नाते हमें प्रदीप को नमस्कार करना चाहिए।”

मैंने कहा, “मैं नहीं जाऊँगी।”

“रश्मि!”

“तुमने एक दिन कहा था कि प्रदीप शिष्टाचार में विश्वास नहीं करता।”

“मुझे याद है, पर वह करता है।”

“कैसे जाना?”

“कल आया जो था।”

नहीं जानती थी कि स्वामी इतनी करारी चोट करना जानते हैं।

फिर भी मैंने कहा, “पर मैं नहीं जाऊँगी।”

“मैं जो कहता हूँ इसलिए?”

“नहीं।”

“नहीं कैसे?” वह क्रोध से भभक उठे। “मैंने कहा, इसलिए तुमने दुष्कार किया है।”

“न कहते तो क्या मैं जाती?”

‘हां, जाती। जाने को तुम तड़प रही हो।’

पर वह तेजी से चले गए। मैं देखती रह गई। मैं जानती हूँ कि मैं

उनके साथ चली जाती तो वह मुझे खा जाते, पर मैं उन्हें क्या दोष दू ? अपराधिनी तो मैं हूँ। मैंने क्यों प्रदीप को खोजा ? क्यों उसे खाहा ? पर मैं स्वयं इस 'क्यों' की नहीं जानती। सब कुछ जानना न सम्भव है, न आवश्यक। वह स्टेमन गए घोर लोटकर उन्होंने सब कुछ बताया। कुछ नया नहीं लगा, क्योंकि मैं स्वयं वहा थी। साथ जा भी रही हूँ। जितने के स्वामी मालिक हैं, उससे परे जो है, वह तो प्रदीप के साथ है।

फिर बहुत दिन बीत गए। स्वामी आजकल बहुत खुश हैं, क्योंकि मैं निरन्तर उनमें खो जाने का प्रयत्न करती रहती हूँ। उन्हें विहाती रहती हूँ, खिजाती हूँ, ऐसा बरताव करती हूँ, जैसे हमारा अभी-अभी विवाह हुआ है। उन्होंने एक दिन दफ्तर से लौटकर कहा—“घरे रदिम, तुमने सुना ?”

“क्या ?”

“प्रदीप ने विवाह कर लिया।”

मैंने मुस्कराकर कहा, “सच ?”

“हा, देखो उसने हमें निमन्त्रण तक नहीं भेजा।”

मैं हँसकर रह गई। उन्होंने एक क्षण रुककर कहा, “क्या कोई उपहार भेजकर हम उसे चकित नहीं कर सकते !”

“यह उसका अपमान होगा।”

“घोट !” उनकी मुद्रा कठोर हो गई। उन्होंने कहा, “नहीं, नहीं, उसे उपहार भेजना चाहिए।”

वह चले गए, लेकिन वह उपहार भेज सकने इससे पूर्व उन्हें दूर दक्षिण की यात्रा पर जाना पड़ा। लीट्टे तो विषम ष्वर से पीड़ित थे। तब दो महीने तक हमारा घर अस्वस्थ बना रहा। मैं उनकी पट्टी से लगी रही। उन्हें जब समझते-जितना होना था तब वह अचानक मेरा हाथ दोनों हाथों में दबा लेते, सहनाते रहते फिर माथे पर फेरते रहते। एक दिन बोले—“रदिम !”

"जी।"

"तुम किनगी अच्छी हो।"

"आप अच्छे हैं, तभी तो मैं अच्छी हूँ।"

"नाही रश्मि, मैं अच्छा नहीं हूँ।" और कहकर वह रो पड़े, "रश्मि, मैं नापी हूँ। मैंने तुम्हें समझा नहीं..."

"चप नहीं करोगे?"

"नहीं, नहीं, आज कह लेने दो। मैंने प्रदीप को लेकर तुम्हें कितना दुःख दिया। रश्मि, अब मुझे नभी मुग होगा जब तुम उससे मिलोगी। तुम उससे मिलो, उसी पुस्तकें पढ़ो, उसे बुलाओ। मुझे तुमपर विश्वास है।"

"अब चप हो जाओ। तुमने किसने कहा कि तुम मेरा अविश्वास करते हो?"

"नहीं, नहीं, मैं करता हूँ। मैं करता हूँ। मुझे पैन दो।"

"पैन?"

"दो न।"

मैं कागज़-कलम उठा लाई। वह बोले, "लिखो।" मैंने लिखा, "जब मैं अच्छा होता हूँ तब तुमपर शंका करता हूँ। मैं आज कहता हूँ कि तुम प्रदीप से मिलने को स्वतन्त्र हो। मेरे मना करने पर भी जा सकती हो।" फिर उन्होंने दस्तखत कर दिए। तब मैंने उसे फाड़ डाला।

वह ठगे-से बोले, "यह क्या किया तुमने?"

"मेरी सम्पत्ति थी, नष्ट कर दी। क्या मुझे इतना छोटा समझा है कि अपने और स्वामी के बीच कागज़-कलम को आने दूंगी?"

आँखें बन्द कर लीं। आँसू की दो बूँदें गालों पर वह आईं।
"कि मैं सदा वीमार रहूँ!"

। भी, क्या अशुभ बातें करते हो।"

"सच।"

"चुप रहो। नहीं, मैं चली जाऊंगी।"

मैंने कुछ ऐसा कहा कि वह मौन हो गए। बग चुनचाप मेरा हाथ बच-
पराते रहे। लेकिन एक मगके नावजूद बजा मैं स्वीकार कर सकती हूँ कि
मैं प्रदीप से जुदा थीं।

किर बट्ट घबड़े हो गए। किर मैं बोमार पट्ट गर्दी और एक दिन चार-
पाई पर लेटे-लेटे बसा देगती हूँ कि हाचट्टों ने तिर हिला-हिलाकर मेरे
पति को दया दिया है। उनके घने जाले पर मैंने श्यामी को बुलाया, "बयों
जी, हाचट्टों के चरकर मे बरों पड़े हो ? मैं टोक ही जाऊगी।"

वह घोलें नहीं, रो पड़े। मैंने कहा, "ठि, ठि", पुराय हो। मुझे गो
देगो।"

यह किर भी नहीं बोले। चुनचाप मेरा पीला हाथ दबाते रहे। मैंने जो
भरकर उठ्टे देगा। एक दिन मुझे बया पागलपन सूभा। अरुआ को बुला-
कर श्यामी को गोय दिया, अंते घब नर ये उनसे दूर थे। धा न यह मेरा
मोह ? यह पिनाब बया किमीको छोड़ता है ? ...पर घब नहीं निगा
जता। बग अब तो चुनचाप लेटकर जहाँ तक देग मरूँ देवने की ओ
पारता है।

प्रदीप

कैसे बयाऊ कि कैसे मैंने उसे भूलने की यागिर बयम की नोक में लो
जाने का प्रयास किया ? पर हर बार बया देगता हूँ कि मेरी हर रचना
में वही उपस्थित है। यह हर बार मानो घोषणा करती, 'मेरी बात मानो।
मुझे मुमंगे मोर्द जुटा नहीं कर सकता। यह भविष्य दूरी भी नहीं जिसे
मोत कहते हैं।' मैंने तग धाकर बियाह कर लिया, पर वह निर्लज्ज तो तब
भी नहीं हरी। ...कैसे कहूँ गया मैं उसे निर्लज्ज ? तज्जा उसके लिए
बनी ही नहीं थी।

मैं एक दिन न जाने किस रग में था कि अपनी परनी नीरहा को
उतारी मारी कहानी गुना बेंटा। गुनाकर बोया, "बया पट्ट भयाभारण
नहीं है ?"

नीरजा जो एक अच्छी चिकित्सा थी, सहसा घबरा उठी, “नहीं तो ! अनापारण इसमें ऐसा क्या है ?”

“पति के रहने उनका मेरे प्रति प्रेम ।”

नीरजा ने शान्त भाव से कहा, “पति के प्रेम से इसका क्या सम्बन्ध है ? अपने आदर्श को वह तुममें पाती रही है । जहां आदर्श की एकता है वही अर्द्ध है । जहां अर्द्धता की भावना है वहां शरीर आ ही नहीं सकता । इस अर्थ में चाहो तो तुम उसे अनापारण कह सकते हो । वरना पति-पत्नी इसमें आते ही नहीं ।”

जैसे बरफीले कुहासे को चीरकर स्वर्णिम सूर्य-प्रकाश धरती पर उतर आता है ऐसे ही मुझे लगा । मैं नीरजा का हाथ दबाकर पूरे एक क्षण तक उसे देखता रहा । उस एक क्षण में अनन्त विचार मेरे मन में उठे । फिर मैंने कहा—“नीरू, लेकिन...लेकिन क्या मैं उसे कभी नहीं भूल सकता ?”

“नहीं, वह तुम्हारे बस की बात नहीं है । वह तुम्हारी भावना का अंग है ।”

श्रीर सहसा नीरू वहां से उठकर चली गई । यह हमारे विवाह के तीन वर्ष बाद की घटना है । वह तब मां बन चुकी थी । उसकी इस अनुभूति से मैं भर उठा । मैं इन बातों को नहीं जानता था ऐसी बात नहीं थी, पर नीरू भी उसे इस तरह समझती है यह जान मेरे लिए, मैं मानूंगा, आश्चर्य-जनक प्रसन्नता का कारण हुआ । मैं नीरू के पास आने लगा । मैं अपनी रचनाएँ पहले भी उसे सुनाता था, पर अब तो जैसे मेरा नियम हो गया । वह भी अपने प्रत्येक चित्र की भाव-व्यंजना को लेकर बड़ी देर तक मेरे बहस करती, पर मैंने देखा कि मेरी कलम की नोक पर रश्मि का ही आकार था । मैंने नीरू से फिर इसकी चर्चा की । पूछा—“क्या तुम कलम की नोक पर नहीं आ सकतीं ?”

वह शरारत से हंसी, बोली—“मैं तुम्हारी पत्नी हूँ ।”

“क्या मतलब ?”

“मतलब यहो कि मैं एक ही स्थान पर रह सकती हूँ—प्रेमिका के या पत्नी के पद पर।”

“क्या पत्नी कलम की नोक पर नहीं आ सकती ?”

“नहीं, नहीं, नहीं, इतना भी नहीं जानते—” वह लोट-लोट होती गई, कहती गई।

आप समझते होंगे कि तब मैं विमूढ-सा होकर लज्जा गया हूँगा। नहीं, यह सब तो मैं सदा जानता रहा हूँ, पर मैं जिस बात को जीतना चाहता था वह यह थी कि रश्मि अब मुझे अधिक मोहाविष्ट कर रही थी। मैं उसे दूर हटाकर नीरू के पास जाना चाहता था, पर हुआ यह कि मेरा प्रत्येक ऐसा प्रयत्न मुझे रश्मि के घोर पास ले गया। अब मैं तो प्रतिक्षण उसे देखने लगा। किसी भी क्षण कहीं से आकर वह मेरे नेत्र मूढ़ लेती, मिलाखिलाकर मुझे डरा देती। मुझे आलिंगन में बांधकर खूब झुंझती। आखिर एक दिन मैंने निश्चय किया कि मैं बल रश्मि के पास जाऊँगा और जो कुछ होगा सहूँगा, पर हुआ यह कि जब तक मैं उस निश्चय को पक्का करूँ एक मधुरे क्या देखता हूँ—मुरेदा आए है।

मैंने मन की हड़बड़ी को यदाशक्ति बश में करने हुए कहा—“आप ?”

“हां, अभी आया हूँ।”

“जल्दारी मरकारी काम से आना पडा होगा ?”

“नहीं, तुमसे ही कुछ काम था।”

“मुझे ? मैं मान लूँ, मैं विस्मित हुआ था और उनकी गम्भीर भावना में मुझे कुछ बड़ाकुली भी नजर आ रही थी। मैंने उत्सुकता दबाकर उन्हें बैठाया। बातचीत करने की चेष्टा की, पर वह भयंकर रूप से घपने में मिमटे रहे। मैं निरन्तर रश्मि को बूढ़ता रहा। पर न जाने क्यों उसका नाम जिह्वा पर आ-आकर लीट जाता था। तब नीरू कहीं बाहर गई हुई थी, इस कारण मेरी स्थिति और भी खराब थी। मैं क्या करूँ ? यह सोचते क्यों नहीं ? रश्मि की बात क्यों नहीं करते, फिर सहसा वह बोले, “प्रदीप, क्या तुम्हें पता है कि रश्मि अब इस दुनिया में नहीं है ?”

मैं सित्तर उठा—“क्या ?”

“हां, दो वर्ष पहले एक छोटी-नी बीमारी के बाद वह मर गई।”

मैं चीख उठा—“दो वर्ष पहले ?”

“हां, मुझे मेद है, कि मैं तुम्हें... नहीं मेद की कोई बात नहीं। मैंने जान-बूझकर तुम्हें सूचना नहीं दी।”

तब की अपनी अवस्था कैसे बखान करूं ? कर ही नहीं सकता। प्रलय गया कभी किसीने देली है ? लेकिन वह तो कुछ कहे जा रहे थे। मैंने सुना, वह कह रहे थे, “प्रदीप, सब कहूं तो मैंने ही उसकी हत्या की है। बीमारी तो बहाना थी। असल में वह इस धरती के योग्य नहीं थी और मैं था धरती का कीड़ा। इसलिए मैंने उसे मार डाला।”

फिर वह हंस पड़े। वह पागल-सी हंसी ! मैंने तड़पकर कहा, “कैसे मार डाला ?”

“उसके चरित्र पर शंका कर-करके।”

फिर उन्होंने छोटा-सा सूटकेस खोला। उसमें से कई सुन्दर पैकेट निकाले। मैंने देखा प्रत्येक पैकेट पर रश्मि ने अपने हाथ से सुन्दर अक्षरों में कुछ लिखा था। मैंने पढ़ा, पहले पैकेट पर लिखा था, “तुम्हारे विवाह की प्रत्येक गतिविवि की मैं साक्षी हूँ। मुझसे भागकर क्या तुम छिप सकोगे ? भागना तो, बन्धु, मोह है। यह पैकेट भी मोह का प्रतीक है, पर तुम्हें भेज कहां रही हूँ। तुमने निमन्त्रण नहीं भेजा तो पैकेट भेजकर तुम्हारा अपमान क्यों करूं ?”

दूसरे पर लिखा था, “तुम न बताओ। तुम्हारे शिशु के सुनहरे बाल मैंने चूम लिए हैं। और देख रही हूँ कि उसकी सूरत तुम दोनों से अधिक मुझसे मिलती है।”

तीसरे पैकेट में अनेक पत्र थे। एक पत्र में लिखा था—

“प्रिय बन्धु,

“मैंने तुमसे कहा था कि स्वामित्व की भूख शरीर की भूख से बड़ी होती है। क्या तुम नहीं जानते कि सतीत्व स्वामित्व की इस भूख का ही

धाराकारिक नाम है। मैंने तुम्हारी रचनाओं में यह प्रतिष्पनि गुनी है।”

दूसरा पत्र था—

“प्रिय बन्धु,

“घात तुमसे बहुत बार्ते हुई। तुम्हारी कहानी ‘निनेष’ में धारदा मैं ही तो हूँ, निरोध तुम हो, उस सारी बहम को पढ़ने हुए मुझे स्पष्ट तुमसे बहम करनी पड़ गई, पर बहस तो कमठोरी का दूसरा नाम है, क्योंकि उसमें हारने-जीतने की भावना है और उपदेश देना है महम् का विस्फोट ...। क्या करें धरती के वासी ठहरे, कैसे बचें इस सोचने से ? क्या इतना सोचनी हूँ, यह भी सोचना पड़ता है, पर पुछनी हूँ, धारदा धरती पर क्यों न रह सनी ? क्या मुझे भी जाना होगा ? ...”

तीसरा पत्र ऐसा था—

“प्रिय बन्धु,

“इतने दिन उनकी बीमारी में डूबी रही। तुमपर यह बेहद प्रगन्न हो उठे हैं। कहते हैं, मिल घामो, पर उन्हें कैसे बताऊ कि दूर कहाँ हूँ जो मिजूं। प्रब बताना भी नहीं चाहती, क्योंकि इस धरती पर घईत सम्भव नहीं। यहा तो एकाधिकार चाटिए। यहा पूजी बटती नहीं, निजोरी में बन्द करके रली जाती है, पर मैं कैसे रगू.....मैं धारदा का पथ पकड़ूंगा। ...”

यह धारदा अन्तिम पत्र था और इनमें उसके अन्त की ध्वनि थी। मैंने सहसा पूछा, “उमकी मृत्यु कैसे हुई ?”

“बना तो मुका हूँ।”

“मैं बनाने की बात नहीं पूछता। सच्ची बात पूछता हूँ।”

सुरेश ने तीली दृष्टि से मुझे देखा, फिर कहा, “जिस दिन घादमी मचवी बात जान लेगा उस दिन सब कुछ नष्ट हो जाएगा। विस्लेषण विनाश का मार्ग है, प्रदीप।”

मैं हटानू उन्हें देवता रह गया। वह मुस्करा रहे थे। हाय ! वह जलती हुई मुस्कराहट ! मैंने विनम्र होकर कहा, “मुझसे गलती हुई। मैं कुछ नहीं

जानना चाहता।”

मैं सचमुच कातर होता गया। अब वह मेरी प्रीति देखते रह गए। आंख उनकी भी उबड़थाने को ही आई। ठीक उसी समय नीरजा ने वहाँ प्रवेश किया। बेटी नीहार उसके साथ थी। उसे देखते ही सुरेश ने चौंकर कहा, “यह कोन है?”

“मेरी बेटी।”

“क्या रश्मि इस आयु में ऐसी ही नहीं रही होगी?”

उस बात का किसीने जवाब नहीं दिया। रश्मि की मौत का समाचार पाकर नीरु एक क्षण हँसे देखती रही फिर बोली, “नहीं, वह मर नहीं सकती। वह आज भी जिन्दा है और सदा जिन्दा रहेगी।”

सुरेश ने इस बात में कोई रस नहीं लिया, वह जैसे खो गया था। एक क्षण बाद उसने कहा, “क्या कभी-कभी मैं यहाँ आ सकता हूँ?”

“आपका सदा स्वागत होगा।”

फिर एक क्षण बाद उन्होंने नीरु से कहा, “क्या आप उसका एक चित्र बना देंगी?”

“आपकी आज्ञा होगी तो...”

“नहीं, नहीं” वह सहसा बोल उठे, “यह मोह है, निरा मोह, बोंग...”

और वह चले गए। रुके ही नहीं। सब प्रयत्न व्यर्थ गए और उसके बाद कभी आए भी नहीं। पत्र तक नहीं लिखा।

एक बार वम्बई में अचानक उनसे मेरी भेंट हो गई। वह सन्ध्या के समय समुद्र-तट पर कार से उतर रहे थे और उनके साथ नये वस्त्रों से लकड़क एक नारी थी। मैंने उन्हें दूर से देखा। मैं जानता नहीं पर विश्वास करता हूँ कि वे दोनों पति-पत्नी थे।

तब न जाने क्यों उस धूमिल अन्धकार में रश्मि की याद करके पहली बार मेरी आंखें भर आईं।

एक रात : एक शव

आधी रात बीत चुकी है। एक नूतन स्तम्भता के बीच सोई हुई अपने कमरे में बैठी हू। केवल अपनी घुटी हुई भावाओं की साँसें सुन रही हू, क्योंकि घर में सपेरा है। सिर्फ वरामदे में हल्का बत्त जल रहा है। सामने के मकान की रोशनी उसपर पड़ती ऐसे लगती है जैसे किसी बाली औरत ने श्वेत सिल्क के बत्त पहने हों या शव पर कफन हो।...

मैं काफ़ी हूँ। मुझे शन की बयो याद आती है, क्योंकि कुछ क्षण पहले मैं भी उसी कमरे में थी जहाँ ताऊजी का शव रखा हुआ है। ताऊजी, जो सन्ध्या तक आनन्द और उल्लास की मूर्ति बने हुए थे। जैसे उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य पा लिया था। हर्ष-विमोह कई दिन से बह बार-बार सबके यहाँ कह रहे थे, "मेरी अन्तिम गाथा भी पूरी हो गई। मुदेश का विवाह एक ऊँचे और कुलीन घराने में हो गया है। कंती सुनील, सुशिखिता और सुन्दर है उनकी बहू प्रमिला। देखो तो, दहेज बितना साई है।"

सुनने वाले उनकी हाँ में हाँ मिलाते। उन्हें बधाई देते। मन ही मन धायद उनके भाग्य में ईर्ष्या भी करते हों, लेकिन वहाँ, "भापने सचमुच बहुत पुण्य किए थे।"

बात काटकर ताऊजी उत्तर देने, "हाँ, पुण्य ठो किए थे। तभी तो

जानना चाहता।”

मैं सचमुच कातर होता गया। अब वह मेरी ओर देखते रह गए। आंख उनकी भी उघड़वाने को ही आई। ठीक उसी समय नीरजा ने वहाँ प्रवेश किया। धेटी नोहार उसके माथे थी। उसे देखते ही सुरेश ने चींककर कहा, “वह कौन है?”

“मेरी धेटी।”

“क्या रश्मि उस आगु में ऐसी ही नहीं रही होगी?”

उस बात का किसीने जवाब नहीं दिया। रश्मि की मौत का समाचार पाकर नीरु एक क्षण हमें देखती रही फिर बोली, “नहीं, वह मर नहीं सकती। वह आज भी जिन्दा है और सदा जिन्दा रहेगी।”

सुरेश ने उस बात में कोई रस नहीं लिया, वह जैसे खो गया था। एक क्षण बाद उसने कहा, “क्या कभी-कभी मैं यहाँ आ सकता हूँ?”

“आपका सदा स्वागत होगा।”

फिर एक क्षण बाद उन्होंने नीरु से कहा, “क्या आप उसका एक चित्र बना देंगी?”

“आपकी आज्ञा होगी तो...”

“नहीं, नहीं” वह सहसा बोल उठे, “यह मोह है, निरा मोह, ढोंग...”

और वह चले गए। रुके ही नहीं। सब प्रयत्न व्यर्थ गए और उसके बाद कभी आए भी नहीं। पत्र तक नहीं लिखा।

एक बार वस्त्रई में अचानक उनसे मेरी भेंट हो गई। वह सन्ध्या के समय समुद्र-तट पर कार से उतर रहे थे और उनके साथ नये वस्त्रों से लकड़क एक नारी थी। मैंने उन्हें दूर से देखा। मैं जानता नहीं पर विश्वास वे दोनों पति-पत्नी थे।

मैंने क्यों उस धूमिल अन्धकार में रश्मि की याद करके पहली खिं भर आई।

एक रात : एक शव

भाभी रात बीत चुकी है। एक नृशंस स्तम्भता के बीच खोई हुई अपने कमरे में बैठी है। केवल अपनो घुटी हुई आवाजो को सासें सुन रही है, क्योंकि घर में मधेरा है। सिर्फ बरामदे में हल्का बलब जल रहा है। गामने के मकान की रोशनी उसपर पड़ती ऐसे लगती है जैसे किसी बाली धोरत ने श्वेत सिल्क के बस्त्र पहने हों या शव पर कफन हो।...

मैं कापती हूँ। मुझे शव की क्यो याद आती है, क्योंकि कुछ क्षण पहले मैं भी उसी कमरे में थी जहाँ ताऊजी का शव रखा हुआ है। ताऊजी, जो सध्या तक धानन्द और उल्लास की मूर्ति बने हुए थे। जैसे उन्होंने जीवन का चरम लक्ष्य पा लिया था। हर्ष-विमोह कई दिन से बह बाराधार सबसे यही कह रहे थे, "भेरी अन्तिम साप भी पूरी हो गई। सुरेश का विवाह एक ऊँचे और कुनोन घराने में हो गया है। कौसी सुनील, सुशिखिता और सुन्दर है उनकी बहू प्रमिला। देखो तो, दहेज कितना साई है।"

मुझे बाले उनकी हा में हां मिलाने। उन्हें बचाई देते। मन ही मन पापद उनके भाग्य से ईर्ष्या भी करते हो, लेकिन कहते, "आपने मचमुच चहुँत पुण्य किए थे।"

बाव काटकर ताऊजी उत्तर देने, "हाँ, पुण्य तो किए थे। तभी तो

मेने जो पाहा वही पाया । भगवान को कृपा है !”

लेकिन उस सन्ध्या को सहसा उन्हें अपने छोटे भाई कमल किशोर की याद हो आई । दीर्घ निःश्वास गहिर कर बोले, “काश आज वह होता ।”

भैरे मंभरे भाई वही बड़े थे । कहा, “जी हाँ, भाग्य की बात है । पर किमना प्रीर वे तानाब में डूब गए । ममय कितनी जन्दी बीतता है । पच्चीस वर्ष हो गए उस दुर्गटना को । तब सुरेश तीन ही वर्ष का तो था ।”

ताऊजी को कण्ठावरोध हो आया । जदा रुककर दो-तीन साँसों लीं । फिर एकाएक बोले, “एक दाग लगा गया मेरे जीवन में । सब खुशियों के बीच भी मैं उसे नहीं भूल पाता । शायद उसकी याद ही मेरी ताकत बन गई है । मुझे गुशी है कि उसके तीनों बच्चों को मैंने वह शिक्षा दी कि जो शायद वह भी न दे पाता । आज वे तीनों योग्य हैं ।”

ममेरे भाई ने कहा, “जी हाँ, आपने जो कुछ किया है वह आदर्श है । लेकिन देखो, दिनेश लन्दन जाकर वापिस ही नहीं लौटा ।”

ताऊजी गवित स्वर में बोले, “क्यों लौटेगा ? वहाँ हजारों रुपये महीना कमाता है । यहाँ उसे कोई सी भी नहीं देगा । यह देश ही ऐसा है । यहाँ प्रतिभा की कद्र नहीं है । मुझे खुशी है कि वह वहाँ सुखी है ।”

लेकिन न जाने क्यों अन्तर में एक कचोट-सी उठी । जल्दी-जल्दी हुक्के के कश खींचने लगे । आँखें सजल हो आईं । सबके चले जाने पर भी बहुत देर तक कहीं खोए-खोए बैठे रहे । हवा में चिल पैदा होने लगी । प्रकाश सिन्दूरी हो चला । ताई ने कई बार पुकारा । वह नहीं उठे । माँ गई तो एकटक उसकी ओर देखते रहे, उठे फिर भी नहीं । घीरे से इतना ही कहा, “सुरेश दिल्ली से लौट आया है ?”

“जी हाँ ।”

“कुछ कहता था ?”

माँ ने एकाएक कुछ उत्तर नहीं दिया । चुपचाप अन्दर जाने को मुड़ी । फिर सहसा द्वार पर आकर रुकी । बोली, “वह पागल हो गया है । वह जो

चाहता है वह नहीं होने का। नहीं ही सचता। घाव घन्दर घा जाइए।”

ताऊजी ने सामने रगी हुई हवाके की नती से जोर से कसा भींचा। वह निकलने हुए धुर को देखने रहे, बुदबुदाते रहे। “लोग कहेंगे यह रहा उन सबको का बाप जो घपने को बाप कहने दारमाता है, जो कायर है, जो...”

एकाएक वह चौक पड़े। देखा सुरेश जन्हींकी धोर घा रहा है। वह जैसे पसीने में नहा-नहा उठे। चाहा कि कहीं भाग जाए। लेकिन हुमा यही कि सुरेश पास घाकर बँठ गया। एक क्षण उन्होंने उसे ऐसे देखा जैसे पहली बार देख रहे हो। स्वस्थ गदराया शरीर, किंचित् श्यामत्ववर्ण, पर नका कँने तीक्ष्ण। कही भय नहीं, सका वहाँ। बिना किसी भूमिका के उसने कहा, “सब प्रबन्ध हो गया है। घपले महीने की पन्द्रह तारीख को मैं मन्दन घना जाऊंगा।”

ताऊजी ने सहसा दृष्टि उठाकर उसकी धोर देखा। कहा, “किसी भी शर्त पर नहीं एक सकते?”

“जी नहीं।”

“सुरेश, क्या तुम्हें यह बताना पड़ेगा कि मैंने तुम्हें किस तरह पाला है? क्या उस सबका यही परिणाम होगा कि मैं यहाँ घकेला तडपता रहूँ?”

सुरेश कई क्षण ताऊजी की धोर देखता रहा। फिर बोला, “मैं घापको सब कुछ बता चुका हूँ। क्या घापमें यह कहने का साहस है कि बड़े भैया धोर मैं घापकी सन्तान हूँ?”

ताऊजी एकाएक सिहर उठे। उनके मुह से इतना ही निकला, “सुरेश!”

सुरेश ने उसी दृढ़ता में कहा, “मैं घापको पिनाजी कहने का घधि-कार चाहता हूँ। मैं सबको यह बताना देना चाहता हूँ कि जिस व्यक्ति का मैं पुत्र कहलाता हूँ वह तालाब में अरुस्मात् नहीं डूब गया था, डूबने के बिलिए बस कर दिया गया था। मैं उसका पुत्र नहीं हूँ। मैं उसे नहीं पह-चानता। मैं घापका पुत्र हूँ।...”

१८० मेरी प्रिय कहानियां

सुरेश अवाच्य गति से बोले चला जा रहा था। मानो शब्द उसके होंठों से बह रहे हों और ताऊजी परस्पर की श्वेत प्रतिभा की तरह उसकी ओर दगे जा रहे थे। उनके शरीर में जैसे रक्त नहीं था, ठण्डा नावा था। वह श्रोत्र से उबलना चाहते थे लेकिन धमनियां जैसे अच्य उनके वश में नहीं थी। जैसे वह थे ही नहीं।...

सहसा वह रो पड़े। विधियाने हुए बोले, "सुरेश, इस बुढ़ापे में क्यों मेरी मिट्टी खराब करता है? क्यों मेरे मुंह पर कालिख पोतता है? मुझे क्षमा कर दे।..."

सुरेश तनिक भी विचलित नहीं हुआ। उसी ठण्डी दृढ़ता से उसने कहा, "मैं अपना अधिकार मांगता हूं। मैं जानता हूं, आपमें साहस नहीं है। इसी-लिए आपको शान्ति से मरने देने के लिए मैं यह देश छोड़कर जा रहा हूं, कभी न लौटने के लिए।"

और वह उठ खड़ा हुआ। उसने ताऊजी की ओर देखा। कल इन्हीं ताऊजी ने उबल-उफनकर उससे कहा था, "वेईमान, वदतमीज, शर्म नहीं आती बकवास करते हुए! इतना भी नहीं जानता कि बड़ों से क्या कहा जाता है, क्या नहीं?"

सुरेश बोला था, "आपका ही हूं, आपने ही मुझे शिक्षा दी है। मैं सत्य जानना चाहता हूं।"

"सत्य का बच्चा! चुपचाप यहां से चला जा, नहीं तो..."

"मैं जानता हूं, आप मेरी भी हत्या कर सकते हैं। मैं तैयार हूं।"

वह हठात् नेत्र-विस्फारित किए देखते ही रह गए थे। इतना ही कह सके, "सुरेश..."

"जी, पिताजी।"

"चुप रहो।"

"जी।"

"तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं इस बात का?"

"आप। आप मना कर दीजिए कि वह कहानी झूठी है।"

"....."

"बीबिए न। मैं भी भाई माह्य को बुला लाऊंगा।"

वह भीष उठे, "जा, तू भी चला जा। हट जा मेरी मांखों के सामने से! हट जा!"

तब वह चुपचाप चला गया था। घात्र भी चुपचाप चला गया। पर ताऊजी की दृष्टि तब कसी रखी गई थी। सोई रही। बहुत देर बाद उन्होंने उठने का प्रयत्न किया और इसी प्रयत्न में वह लडखटा गए और फिर नाली के पास गिर पड़े। हर घर के भीतर एक नाली होती है जो सड़क को बाहर से जाती है। कभी-कभी वह रुक भी जाती है। उस क्षण उन्हें लगा जैसे वह नाली कभी की रुकी हुई है, जैसे उसकी सड़क उनके नासिका-रन्ध्रों में बगने लगी है और वह डूब रहे हैं, उस सड़क का अग बन रहे हैं।

न जाने वह कब तक उठा पड़े रहने कि मां उपर आ निकली। एक बीखार उनके मुख से निकल गई और उसीको सुनकर परिजनो की भीड़ वहा इकट्ठी हो गई। जखी-जखी उन्हें भारपाई पर लिटाया गया। डाक्टर पर डाक्टर आए और चले गए। गिर हिला-हिलाकर सबने अपनी प्रस-मर्त्यता प्रकट की। हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण ताऊजी की मृत्यु हो चुकी थी।

घोर अथ बड़ी ताऊजी उसी कमरे में धरती पर लेटे हैं। उनके सिर-हाने खंटी हुई ताईजी रह-रह कर चीरकार कर उठती हैं। उनका कण प्रन्दन हम सबको रोने के लिए विवश कर देता है, नहीं तो हमारे मांसू सून चुके हैं। मा परवर की प्रतिमा-नी आखें फाड़े एक कोने में बैठी खून्य में साक रही है। वह हिलती-डुलती तक नहीं। किसीकी बात का उत्तर तक नहीं देती। किसीके हिलाने-डुलाने पर कोई प्रतिक्रिया उसमें पैदा नहीं होती। मैंने उसे बहुत भकभोरा, बहुत कुछ कहा पर उसकी पथराई हुई आंखों ने ज़ुम्बित तक नहीं ली। तभी मेरे कानों में पीछे से एक आवाज आई। वह दूर-दगज की मेरी एक बानी थी। धीमे-धीमे विद्रूप से कह रही

वह उसी तरह उनकी सेवा करती रही, उसी तरह सबपर शासन करती रही...

दो दिन पूर्व सुरेश ने मां से भी यही कहा था, "मां, तुमने सदा शासन किया है। तुमने अमित साहस है। फिर तुम इस सत्य को क्यों नहीं स्वीकार करती कि दिनेश भैया और मैं उस पिता की सल्लान नहीं हैं जिसका नाम म्युनिस्पल कमेट्री के रजिस्टर में लिखा हुआ है। यह क्यों नहीं कहती कि तुम उसकी पत्नी नहीं हो। तुम..."

सुनकर मा डडत हो घाई थी। दात भीचकर कहा था, "तुम्हें सर्म नहीं आती मा से इस तरह बातें करते ? तू कौन होता है यह कहने वाग्या कि तू किसका बेटा है ? यह मेरा अधिकार है।"

सुरेश हसा था, "मा, तुम जाननी हो कि तुम्हारी यह दडता बालू की भित्ति पर खड़ी है। तुम झूठ बोल रही हो। तुम अब इस स्थिति में नहीं हो कि मुझे रोक सकी। मैं निश्चय ही चला जाऊंगा। हा, यदि रोकना चाहती हो तो..."

"सुरेश, तुम जा सकते हो।"

सुरेश सहसा संकंपका गया था। वह मा को जानता था। लेकिन उसने यह कल्पना नहीं की थी कि वह इतनी क्रूर भी हो सकती है। उसने मां की आंखों में आसू देखे थे। उसने मा का प्यार पाया था। बचपन में उसके तनिक-भी खोट लग जाने पर मा निलमिता उठनी थी। परीक्षा में अश्वल आकर जब वह घर लौटता था तो हर्ष-विभोर वह रो आती थी। उसने कई बार सुरेश से कहा था, "सुरेश, क्या तू मुझे छोड़कर तो नहीं चला जाएगा ?"

सुरेश सदा गर्व से भरकर उत्तर देता था, "नहीं मा, मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जाऊंगा। मैं जहां भी जाऊंगा, तुम्हें साथ लेकर जाऊंगा।"

शायद दिनेश से भी मा इन्नी तरह पूछनी होगी। शायद वह भी ऐसा ही उत्तर देना होगा। लेकिन एक र्क भव सुरेश भी वही निश्चय

इदमा

या और उसने मां से कहा था, "मां, तुम एक बार यह कह दो कि यह सब झूठ है।"

लेकिन मां ने और बहुत कुछ कहा था पर वह यह नहीं कह सकी थी कि यह झूठ है। मुझे ठीक याद है कि उसने एक-एक करके दो-तीन सांसें लीं। फिर एकाएक चीनने लगी। वह न सुरेश से कुछ कह रही थी न अपने-आपसे। वस, यह योने जा रही थी जैसे शब्द अपने-प्राप उसके होंठों से फिसल रहे हों। जैसे शब्दों पर से उसका काबू हट गया हो। अन्त का एक वाक्य ही समझ में आ सका। उसने कहा, "तुम मेरे बेटे हो, क्या इतना ही काफी नहीं है?"

सुरेश बोला, "काश कि इतना ही काफी होता ! काश, मेरे प्रमाण-पत्रों में पिता के स्थान पर मां का नाम लिखा होता ! पर मां, मैं उस झूठे पिता को नहीं सह सकता जो कायर था। उसमें इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह अपनी पत्नी को अपनी बना सकता या फिर उसे छोड़ देता। नहीं तो कम से कम उसका गला घोटकर मार देता। वह स्वयं क्यों मरा ? नहीं, नहीं, मैं ऐसे पिता का पुत्र नहीं हो सकता। और जब कि यह सत्य है कि मैं उसका पुत्र नहीं हूँ, तो फिर मैं क्यों उस लाश को सदा-सर्वदा अपने ऊपर लादे फिरुं ? मैं उससे मुक्ति पाना चाहता हूँ। और पाऊंगा। मैं लन्दन जा रहा हूँ। पम्मी भी जा रही। सब प्रबन्ध हो चुका है। हम फिर कभी लौटेंगे भी नहीं।..."

सचमुच सुरेश जा रहा है। प्रमिला भी जा रही है। ताऊजी उनसे पहले ही चले गए। उनका शव बराबर के कमरे में रखा हुआ है। लेकिन सोचती हूँ कि लन्दन में रहकर भी क्या ये दोनों भाई इन शवों से मुक्ति पा सकेंगे ! शायद नहीं।..."

मेरी आंखों के आंसू और भी सूख गए। मेरे नासारन्ध्रों में शव की गन्ध भरने लगी है। भविष्य का ठण्डापन मुझे आ दवोचता है। मुझे लगता है, आकाश में शव ही शव मंडरा रहे हैं, मैं अपनी गर्दन को झटका देती हूँ। मैं अपने घर में अकेली ही पड़ गई हूँ। जैसे धीरे-धीरे सभी मर

रहे हैं। रात भी मग रही है। कुछ ही क्षणों में दरारों से उपा की रश्मियाँ अन्दर आएगी। तार्डजी का चीत्कार सहस्र गुण होकर दीवारों को तोड़ देगा। समाज वाले आएंगे और फिर मुरेश चुपचाप ताऊजी का अन्तिम मंस्कार करेगा। शायद कुछ लोग कानों ही कानों में कुछ बातें करेंगे। लेकिन तार्डजी का क्या होगा? वह विष जो उन्होंने अब तक अपने कण्ठ में धारण किया था क्या वह अब नीचे उतरकर उन्हें भस्म नहीं कर देगा? लेकिन मा को तो यह सोभाग्य भी नहीं मिलेगा। वह शायद इस तरह बँठी रहेगी। वह किसी बात का प्रत्युत्तर नहीं देगी। घुटनों में मुह भी नहीं छिपाएगी। शायद इसी तरह शून्य को देखती रहेगी। बस, देखती रहेगी।

सहसा देखनी हू कि मुरेश मेरी ओर आ रहा है। वह उभी तरह शान्त और दृढ़ रहने की केंटा कर रहा है। मेरे पास आकर वह कहता है, “जीजी, ऊपर चलो।”

मैं एकाएक जैसे रंगे हाथों पकड़ी गई हू। हठवडा कर उठती हू। मुडते-मुडते वह फिर कटता है, “मच्छा है कि जीजी, तुम्हारी शादी हो चुकी है। फिर भी तुम तो मुझे माफ कर देना। मैं एक नहीं सक्ता।”

इससे पहले कि मैं उसकी बातों का अर्थ समझ सकूती, वह चला जाता है। और मैं सन्तप्त-विमूड नडखडाती हुई उधर ही चल पडती हू जिधर ताऊजी का शव रखा है और नाते-रिस्ते की ओरतें अपने मान्धिक चीत्कारों में दर्द पैदा करने का विफल प्रयत्न कर रही हूँ।

एक और दुराचारिणी

कई दिनों से शरवती मेरे मन और मस्तिष्क पर छाई हुई है। नहीं जानता, उसके मां-बाप ने उसका नाम रखते समय उसकी आंखों में भांका था। वे सचमुच शरवती थीं। श्यामवर्णी शरवती की वाणी बुन्देलखण्ड की सहज मिठास से छलछलाती थी। कभी-कभी मुझे लगता था, वह इतना काम कैसे कर लेती है ! पर वह जितनी कोमल-मधुर है, उतनी ही पल्प-कठोर भी।

सोचते-सोचते पाता हूँ कि शरवती आंखों में उभर आती है। रोज देखता हूँ कि वह तेज-तेज कदम धरती दूध लाती है, कांछा बांधे घर बुहारती है, एक बस्त्र पहनकर खाना बनाती है, बेबी को हंसाने के प्रयत्न में स्वयं भी हंसती है और फिर फूट-फूटकर रो पड़ती है। लेकिन इसके पूर्व कि कोई उसके आंसुओं को देख सके, वह उन्हें सुखा देती है। परन्तु शरवती की आंखों में पड़े वे लाल डोरे उसके छल को प्रकट कर ही देते हैं। और तब उनके पीछे से भांकती वेदना मुझे चीर-चीर देती है।

शरवती रोती क्यों है ? क्योंकि गत वर्ष उसके दोनों बच्चे दस दिनों के भीतर ही भीतर चेचक का शिकार हो गए थे; क्योंकि उसका पति शराब पी-पीकर निकम्मा हो गया है; क्योंकि उसकी ज़ालिम सास उसे पीटने के लिए बेटे को शराब पीने को प्रोत्साहित करती है।

वे सभी सारा पीने हैं। घोर साधक उनको घोरने पगल भी करती हैं, बसोकि रिशते बनें पनि को लेकर यह हमारे पास आई थी घोर विहायन करन हुए बड़ा था। "मैं कहती हूँ, मैं सारा पीने को मना नहीं करती पर इनको दिया जिनको भेष मकी। पी-पीकर अपने को मराने में क्या पावना!"

मैं दुगधी घोर देखा यह मया था। क्या उसे पनि का सारा पीना पगल है? या वह उमने समझीया करना चाहती है? कुछ समझना बटिन नहीं था पर बटिन का उन दोनों को समझा पाना। वह पीना था घोर पीटना था। वह रिशती भी पर उसे छोड़ नहीं जाती थी। कैसा है यह दोपटशनी मरगल? क्यों एक बार एक की होकर नागो उमने मुरि नही पाना चाहती? क्या यह उमका आन्तरिक मरुत विहाय है या ममात्रकलर घदरा मरुतारकलर भव! ममात्र घातिर क्या है! मात्र घाने को घमर रगने की दुकला, मनुष्य घमर हाना चाहता है। क्या यह मात्र बायोमॉडिक्म प्रदन है...?

महमा सभी पनी मृणाल ने पाकर कहा था, "घाने कुछ मुना!"

"किग बारे में?"

"घरवती के।"

मैं शन के महमने भाग में भव में जाता, मिहरा, फिर साग मर मुगकगकल मैंने कहा, "क्यों, क्या हुआ उसको? क्या रामकरण घोर उमकी मां में उगे मात्र हाना?"

मृणाल श्रम में बोली, "वह है ही मरने लायक! परे दिनों में संका पी, मात्र मही-मही पाना मना है।"

मैं मनकं हूँ उठा, बोला, "कुछ बटोमी भी, क्या हुआ?"

मृग्य मृणाल ने कहा, "वह दुराचारिणी है।"

"दुराचारिणी, कौन घरवती?"

"जो हूँ, वह भोली-भासी श्रमकी प्रसता करने घाप नहीं मघाने! पनि घोर मात्र के विदद जिनका घाप मदा पश लेने है, वह

सचमुच दुराचारिणी है। और दुराचारिणी को प्रथय देना दुराचार को प्रथय देना है।”

“तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है?”

मृणाल तड़पकर बोली, “मैं नारी हूँ। इतना ही प्रमाण क्या काफी नहीं है? हृदय का रहस्य हूँद निकालने में नारी की दृष्टि बड़ी पैनी होती है।”

इतना कहकर मृणाल विजय-गर्व से मुगकराई थी और उठकर अन्दर चली गई थी मानो वहाँ प्रमाणों का ढेर लगा हुआ है और वह अभी उनमें से कुछ लाकर मेरे सामने बिखेर देगी। सोचने लगा, यही मृणाल है!

उस दिन तड़के ही मेरे साथ घूमने जाने को तैयार खड़ी थी तो बाहर शरवती के आने की सूचना मिली। आशंकित होकर उसने कहा, “इस असमय में वह क्यों आई? अवश्य कोई बात है।”

और सचमुच बात थी। बहुत आश्वासन देने पर रो-रोकर शरवती ने कहा था, ‘मैं अब आपके पास रहूँगी। घर का एक कोना मेरे लिए काफी है। मैं उनकी मार नहीं खा सकती। देखो तो, मां-बेटे ने मिलकर मुझे नीला कर दिया है!’

और वह फफक-फफककर रो उठी। मृणाल ने जैसे उस मार को अपने मन पर अनुभव किया। क्रुद्ध-कम्पित बोली, “हाय, उन दुष्टों ने बेचारी का क्या हाल कर दिया! राक्षस कहीं के! आप महाराज से कहकर उन्हें जेल में बन्द नहीं करवा सकते क्या?”

उस दर्द को मैं भी अनुभव कर रहा था। यदि मेरे सामने होते तो शायद मैं उन्हें गोली मार देने में भी संकोच न करता। पर आवेश के क्षण कभी स्थायी नहीं होते। उस दिन घूमना नहीं हो सका। मृणाल को वहीं छोड़कर मुझे शरवती के घर जाना पड़ा। पहले तो उसने रो-रोकर विरोध किया, बोली, ‘सौमन्ध खाकर आई हूँ, अब नहीं जाऊँगी!’

मैंने कहा, “कल को जब जाने को कहोगी तो बात कुछ और ही हो जाएगी।”

मृणाल ने तीव्रता से उमका पक्ष लिया परन्तु उसने फिर कुछ नहीं कहा। चुपचाप मेरे साथ चल पड़ी, क्योंकि वह जानती थी कि मैं उसे उसके ही घर ले जा रहा हूँ। उसके बाहर वह नहीं रह सकती। काश, यह रह सकती!

मृणाल ने तर्क किया था, "क्यों नहीं रह सकती? तुम पुरुष हो, इस-लिए सहानुभूति और गमभीने की छाड़ लेकर उसके विद्रोह को दबा देना चाहते हो। बेचारी शरीर छटाकर घर-भर का पेट भरती है। उसके रक्त की कमाई को वे शराब बनाकर पी जाते हैं। मसल में वे उसका रक्त ही पीते हैं!"

मृणाल का वह रूप कम ही देखा था। नारी के अधिकारों के प्रति यह असाधारण रूप से सजग थी परन्तु उसे वामनद्वियों की भाषा का प्रयोग करते पहली ही बार सुना था। सुनकर अन्तरतम में सुख भी हुआ था, क्योंकि मैं शरवती की मुक्ति के लिए आतुर था। पर चाहता था कि वह मुक्ति अर्जित करे; दान-स्वरूप न पाए। परन्तु आज जब उसीके मुह से सुना कि शरवती दुराचारिणी है तो सचमुच हतप्रभ रह गया। स्त्री श्वचल है, उसके चरित्र के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, फिर भी आज का उसका वह भद्दा रूप मुझे अच्छा नहीं लगा।

जब वह बहुत देर तक नहीं लौटी तो मेरे मन के आकाश पर यास-काशी के मेरु धिरने लगे—सचमुच क्या शरवती भी शराब पीने लगी है? या वह किसीके साथ भाग गई है?

यह विचार आते ही मन के अन्तराल में सुख की लहर-भी दौड़ गई—उगी प्रकार जिस प्रकार दादी के मुह से दैत्य के महल में कौंद राज-कुमारी की मुक्ति की कहानी सुनकर खुशी होती थी। शरवती वही राजकुमारी है पर राजकुमार कौन है...?

सहसा कल्पना-लोक से नीचे उतर आना पड़ा। मृणाल के वामपंथी स्वर का लक्ष्य इस समय शरवती बनी थी। तेज-तेज कदम मेरे पास आकर बोली, "जरा धीरे-धीरे शरवती से, अब तक कहा थी?"

मैंने दृष्टि उठाई तो पाया, शरवती खड़ी है—भावयून्य, व्रस्त। मैंने धीरे से कहा, “शरवती, देखता हूँ, कई दिनों से सन्ध्या को तुम देर से आती हो, यह ठीक नहीं है। जरा ध्यान रखा करो। अच्छा, जाओ।”

शरवती उसी क्षण मुड़ गई। और मैंने अनुभव किया कि मृणाल की आग्नेय दृष्टि उसे भस्म किए दे रही है। अन्दर चली गई तो उसने मुझसे कहा, “मैं नहीं समझती थी कि तुम मेरा इस तरह अपमान कर सकोगे। मैं उसे किसी भी शर्त पर घर में नहीं घुसने दूंगी।”

मैं तब भी अपनी भुंभलाहट छिपा गया। मुस्कराकर बोला, “सुनो, मृणाल, कहीं न कहीं हम सब दुराचारी हैं। मेरे बारे में क्या तुमने कभी कुछ नहीं सुना?”

किञ्चित् क्रुद्ध, किञ्चित् व्यंग्य से मृणाल बोली, “रहने दो अब उन बातों को! अपनी प्रसिद्धि का बखान सुनकर क्या करोगे!”

“कभी-कभी सुनने में अच्छा लगता है—विशेषकर अपनी पत्नी के मुख से!”

मृणाल मुसकराई, “देखो जी, अब तुम वह नहीं हो जो मेरे आने के पहले थे।”

“तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है?”

“मेरी आंखें।”

वह मुसकराई। पर मुझे इस दावे से सुख नहीं मिला। अपनी पराजय ही अधिक लगी। फिर भी कहना पड़ा, “तुम ठीक कहती हो।”

मृणाल गर्व से बोली, “इसीलिए तो मैं कहती हूँ कि मेरी आंखें धोखा नहीं खा सकतीं। उस दुराचारिणी को अब जवाब देना ही होगा।”

नारी जब गर्व करती है तो उसका सौन्दर्य म्लान पड़ जाता है। अपनी पराजय के कारण मैं तब सुखी नहीं हो सका। किसी तरह साहस बटोरकर मैंने धीरे से कहा, “अच्छा।”

मन का भय मुख पर ही नहीं, अंग-अंग में प्रकट हो चला था। उस समय वह और भी सघन हो उठा जब सन्ध्या को मैंने मृणाल को भ्रमण के

लिए लैदार पाया। उसके मयनों में ऐसी सीपि दी जैसी गिहारी के मयनों में गिहार हो पा जाने के बाद होती है। गाम्भी बनधी की सोमा-ली उगधी गारी, बलिहार के दुखो-गे उनके कुण्डल, दिन भी वषाण के फूलने के थे। सीप ही हम सब निर्मित कुत्रों से हांकर उगा घाट की घोर जा निबने। उपर तेंदुके, जगनी मूपर, स्वर्ण मूप, सभी छोटे हैं। पर सभी अणुवार दूर या घोर गजमहल तक पहुचने तक बन-पदुधों के उपर या निबलने की छासा मरी थी। मरी में जल भी कम था—बिनागवर मगम के पास। सुन्देनगण्ड की नदियो बहू उपरुपा नहीं है। खंख बिनोरी के समान पीडा-बीबुक में उनकी बिनेय रसि है। उस समय उस बन-भाग में छा-ि थी। केबन बिदिमो का बट मगीउ घोर नदियो का का-कन बाटदुन्द गोभा के ममनाम की पुनक से भर रहा था। सुन्द-मम मीने कहा, "साधो, मुणाप, कूछ दर यही बेंदेंगे।"

मुणाप बोनी, "न, आज नहीं। मुझे उपर रामदगार बनारस में कुछ काम है।"

"तो..."

"बहु सब यही रणशामी कर रहा होता।"

"पर उगे तो मैं कम पर पर बुना लकड़ा हू।"

"नहीं-नहीं, मुझे सभी एक आरामक काम दार का गया है। खलित, फिर अयेरा ही आएगा।"

मरी के पराजब के प्रभाव से सभी दूर्य बन न मूक नहीं हुआ था। दण्डबनु लगी घोर बह गया। मन में खेप था पर मैं नहीं कहना था कि मुझपर कोई यह माटा मगाए कि मैं अपनी सभी पर घोर उनके माध्यम से नारीमान पर आजाचार करण हू।

दरारो की बोधी सामने दिखाई देने लगी थी। दण्ड आकर दाला कि वहा कोई नहीं है परानु बहो से बिनीके जाने का' का इतर का' ऐसे मुह रहा है जैगे कोई को अरिब बहू घोर-घोरे पर ब्याहून अरुण से कर्ने कर रहे हो। मुनाप मुगकपाई, बोनी, "दुखी।"

अनजान बनकर मैंने कहा, “क्या ?”

“शरवती शरवती की बाणी !”

मेरे सामने एक धापाधमकात सिहर उठा। मन्त्रवन् मेरी दृष्टि मृणाल के मूल पर भूष गई। यह अब पूर्ण शान्त थी। और चीते की तरह मोन मन्थर गर्ज में स्वर की दिशा में बढ़ रही थी। मोहमस्त-सा मैं तब भी वहीं खड़ा रहा। परन्तु तभी उसने मुझकर मुझे घाने का संकेत किया। प्रौर मैं सहज भाव में समझे ही क्षण नानि के ऊपर जाकर पड़ा ही गया। भाँककर क्या देगती तूँ कि नीचे एक बड़े में परवर पर बनरखा रामप्रसाद बैठा है और उसमें निरन्तर गर्जा, कहना होगा उसके बध पर भुकी, शरवती वैठी है। मन्थों का ज्ञान नहीं, मन का ज्ञान नहीं, बस भावाकुल भीगे नेत्रों से एकटक रामप्रसाद के मूल को देगती हुई धीरे-धीरे कुछ कह रही हैं। उस शान्त प्रदेन में वे मन्थर निमन्ता की बाणी की तरह मेरे हृदय में सीधे प्रवेश कर जाते हैं। पहचान सकता हूँ, यह शरवती का स्वर है। कोमल-मधुर। “नहीं, मैं अब इनके बच्चों की मां नहीं बनना चाहती। मां बनना और फिर गला घोट देना... वह मेरा ही गला क्यों नहीं घोट देता !”

यद्य रामप्रसाद का स्वर है। उसने शरवती के बलान्त-वस्त शरीर को वनिष्ठ भुजा में दबा लिया है। कहता है, “इतनी दुखी मत हो, यह सब तो भगवान की माया है !”

“भगवान क्या इतने क्रूर हैं ?”

मोन।

“बोलो ?”

“नहीं, भगवान क्रूर नहीं होते पर...”

“न, न, मैं नहीं मानती... मैं नहीं मानती।”

फिर एक क्षण मोन रहा। पाया, शरवती रो रही है। बनरखे ने धीरे से उसका मुख ऊपर उठाकर उसके आंसू पोंछ दिए और...

तभी वह भटके के साथ उठ खड़ी हुई। व्यग्र-सी बोली, “ओह देर हो गई ! वीवीजी आज फिर नाराज होंगी !”

यह फिर वनरधे का स्वर है, "न, न, दो क्षण और बैठो। तुम्हारी बीबीजी क्या तुम्हारे दुःख को नहीं पहचानती?"

"पहचानती है फिर भी देर होने पर नाराज तो हुआ ही करते हैं। नहीं। अब जाने दे। कल भाऊगी।"

"गुन, तू उसे छोड़ क्यों नहीं देती?"

यह शरवती का स्वर है, "तब उसकी मा ही उसे मार डालेगी!"

"तो मरे!"

"नहीं... नहीं, वह मुझे ब्याहकर लाया है।"

"मार डालने के लिए तो नहीं!"

यह फिर शरवती का स्वर है, "मेरी कुछ समस्या में नहीं आता। मैं तुम्हें चाहती हूँ। तुम्हारे पास मुझे दो क्षण का मुख मिलता है। मैं उसे भी छोड़ नहीं पाती..."

घोर फिर एकाएक उससे सट गई। उसकी शरवती भाँखों में उन्माद-सा छलक पड़ा। मुझे जैसे किसीने पीछे पकड़कर खींचा हो। मुड़कर देखता हूँ, मृणाल दूसरी ओर देखती हुई मूर्तिवत् खड़ी है। उसका चेहरा राख हो गया है। वह जल्दी-जल्दी मुझे खींच रही है। सड़क पर पटुं चकर ही सजा लौटी। पुकारा, "मृणाल!"

अब मृणाल ने दृष्टि मेरी ओर घुमाई। देखता हूँ, आँखों से आँसू ऋरे जा रहे हैं। एकाएक सोचता हूँ, क्या ये शरवती के आँखें ही नहीं हैं?

